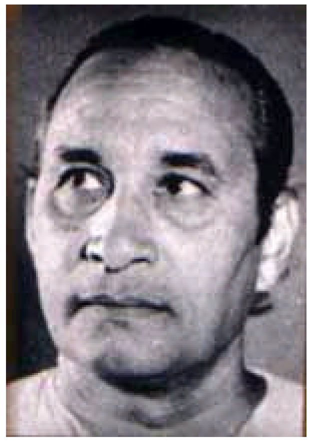
हरिशंकर परसाई की चुनिंदा व्यंग्य रचनाएं



हिंदी के महान व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई की कुछ चुनिंदा रचनाओं का संकलन............

अनुक्रम-

विकलांग श्रद्धा का दौर

अभी-अभी एक आदमी मेरे चरण छूकर गया है। मैं बड़ी तेजी से श्रद्धेय हो रहा हूं, जैसे कोई चलतू औरत शादी के बाद बड़ी फुर्ती से पतिव्रता होने लगती है। यह हरकत मेरे साथ पिछले कुछ महीनों से हो रही है कि जब-तब कोई मेरे चरण छू लेता है। पहले ऐसा नहीं होता था। हाँ, एक बार हुआ था, पर वह मामला वहीं रफा-दफा हो गया। कई साल पहले एक साहित्यिक समारोह में मेरी ही उम्र के एक सज्जन ने सबके सामने मेरे चरण छू लिए। वैसे चरण छूना अश्लील कृत्य की तरह अकेले में ही किया जाता है। पर वह सज्जन सार्वजनिक रूप से कर बैठे, तो मैंने आसपास खड़े लोगों की तरफ गर्व से देखा- तिलचट्टों देखो मैं श्रद्धेय हो गया। तुम घिसते रहो कलम। पर तभी उस श्रद्धालु ने मेरा पानी उतार दिया। उसने कहा-, "अपना तो यह नियम है कि गौ, ब्राह्मण, कन्या के चरण जरूर छूते हैं।" यानी उसने मुझे बड़ा लेखक नहीं माना था। बम्हन माना था।

श्रद्धेय बनने की मेरी इच्छा तभी मर गई थी। फिर मैंने श्रद्धेयों की दुर्गति भी देखी। मेरा एक साथी पी-एच.डी. के लिए रिसर्च कर रहा था। डॉक्टरेट अध्ययन और ज्ञान से नहीं, आचार्य-कृपा से मिलती है। आचार्यों की कृपा से इतने डॉक्टर हो गए हैं कि बच्चे खेल-खेल में पत्थर फेंकते हैं तो किसी डॉक्टर को लगता है। एक बार चौराहे पर यहाँ पथराव हो गया। पाँच घायल अस्पताल में भर्ती हुए और वे पाँचों हिंदी के डॉक्टर थे। नर्स अपने अस्पताल के डॉक्टर को पुकारती: 'डॉक्टर साहब' तो बोल पड़ते थे ये हिंदी के डॉक्टर।

मैंने खुद कुछ लोगों के चरण छूने के बहाने उनकी टांग खींची है। लँगोटी धोने के बहाने लँगोटी चुराई है। श्रद्धेय बनने की भयावहता मैं समझ गया था। वरना मैं समर्थ हूं। अपने आपको कभी का श्रद्धेय बना लेता। मेरे ही शहर में कॉलेज में एक अध्यापक थे। उन्होने अपने नेम-प्लेट पर खुद ही 'आचार्य' लिखवा लिया था। मैं तभी समझ गया था कि इस फूहड़पन में महानता के लक्षण हैं। आचार्य बंबईवासी हुए और वहाँ उन्होने अपने को 'भगवान रजनीश' बना डाला। आजकल वह फूहड़ से शुरू करके मान्यता प्राप्त भगवान हैं। मैं भी अगर नेम-प्लेट में नाम के आगे 'पंडित' लिखवा लेता तो कभी का 'पंडितजी' कहलाने लगता।

सोचता हूं, लोग मेरे चरण अब क्यों छूने लगे हैं? यह श्रद्धा एकाएक कैसे पैदा हो गई? पिछले महीनों में मैंने ऐसा क्या कर डाला? कोई खास लिखा नहीं है। कोई साधना नहीं की। समाज का कोई कल्याण भी नहीं किया। दाड़ी नहीं बढ़ाई। भगवा भी नहीं पहना। बुजुर्गी भी कोई नहीं आई। लोग कहते हैं, ये वयोवृद्ध हैं। और चरण छू लेते हैं। वे

अगर कमीने हुए तो उनके कमीनेपन की उम्र भी 60-70 साल हुई। लोग वयोवृद्ध कमीनेपन के भी चरण छू लेते हैं। मेरा कमीनापन अभी श्रद्धा के लायक नहीं हुआ है। इस एक साल में मेरी एक ही तपस्या है- टांग तोड़कर अस्पताल में पड़ा रहा हूं। हड्डी जुड़ने के बाद भी दर्द के कारण टांग फुर्ती से समेट नहीं सकता। लोग मेरी इस मजबूरी का नाजायज फायदा उठाकर झट मेरे चरण छू लेते हैं। फिर आराम के लिए मैं तख्त पर लेटा ही ज्यादा मिलता हूं। तख्त ऐसा पवित्र आसन है कि उस पर लेटे दुरात्मा के भी चरण छूने की प्रेरणा होती है।

क्या मेरी टांग में से दर्द की तरह श्रद्धा पैदा हो गई है? तो यह विकलांग श्रद्धा है। जानता हूं, देश में जो मौसम चल रहा है, उसमें श्रद्धा की टांग टूट चुकी है। तभी मुझे भी यह विकलांग श्रद्धा दी जा रही है। लोग सोचते होंगे- इसकी टांग टूट गई है। यह असमर्थ हो गया। दयनीय है। आओ, इसे हम श्रद्धा दे दें।

हां, बीमारी में से श्रद्धा कभी-कभी निकलती है। साहित्य और समाज के एक सेवक से मिलने मैं एक मित्र के साथ गया था। जब वह उठे तब उस मित्र ने उनके चरण छू लिए। बाहर आकर मैंने मित्र से कहा- "यार तुम उनके चरण क्यों छूने लगे?" मित्र ने कहा- "तुम्हें पता नहीं है, उन्हे डायबटीज हो गया है?" अब डायबटीज श्रद्धा पैदा करे तो टूटी टांग भी कर सकती है। इसमें कुछ अटपटा नहीं है। लोग बीमारी से कौन फायदे नहीं उठाते। मेरे एक मित्र बीमार पड़े थे। जैसे ही कोई स्त्री उन्हें देखने आती, वह सिर पकड़कर कराहने लगते। स्त्री पूछती- "क्या सिर में दर्द है?" वे कहते- "हां, सिर फटा पड़ता है।" स्त्री सहज ही उनका सिर दबा देती। उनकी पत्नी ने ताड़ लिया। कहने लगी- "क्यों जी, जब कोई स्त्री तुम्हें देखने आती है तभी तुम्हारा सिर क्यों दुखने लगता है?" उसने जवाब भी माकूल दिया। कहा- "तुम्हारे प्रति मेरी इतनी निष्ठा है कि परस्त्री को देखकर मेरा सिर दुखने लगता है। जान प्रीत-रस इतनेहु माहीं।"

श्रद्धा ग्रहण करने की भी एक विधि होती है। मुझसे सहज ढंग से अभी श्रद्धा ग्रहण नहीं होती। अटपटा जाता हूं। अभी 'पार्ट टाइम' श्रद्धेय ही हूं। कल दो आदमी आए। वे बात करके जब उठे तब एक ने मेरे चरण छूने को हाथ बढ़ाया। हम दोनों ही नौसिखुए। उसे चरण छूने का अभ्यास नहीं था, मुझे छुआने का। जैसा भी बना उसने चरण छू लिए। पर दूसरा आदमी दुविधा में था। वह तय नहीं कर पा रहा था कि मेरे चरण छुए या नहीं। मैं भिखारी की तरह से देख रहा था। वह थोड़ा सा झुका। मेरी आशा उठी। पर वह फिर सीधा हो गया। मैं बुझ गया। उसने फिर जी कड़ा करके कोशिश की। थोड़ा झुका। मेरे पांवों में फड़कन उठी। फिर वह असफल रहा। वह नमस्ते करके ही चला गया। उसने अपने साथी से कहा होगा- तुम भी यार कैसे टुच्चों के चरण छूते हो। मेरे श्रद्धालु ने जवाब दिया होगा- काम निकालने को उल्लुओं से ऐसा ही किया जाता है। इधर

मुझे दिन-भर ग्लानि रही। मैं हीनता से पीड़ित रहा। उसने मुझे श्रद्धा के लायक नहीं समझा। ग्लानि शाम को मिटी जब एक कवि ने मेरे चरण छुए। उस समय मेरे एक मित्र बैठे थे। चरण छूने के बाद उसने मित्र से कहा, "मैंने साहित्य में जो कुछ सीखा है, परसाईजी से।" मुझे मालूम है, वह कवि सम्मेलनों में हूट होता है। मेरी सीख का क्या यही नतीजा है? मुझे शर्म से अपने-आपको जूता मार लेना था। पर मैं खुश था। उसने मेरे चरण छू लिए थे।

अभी कच्चा हूं। पीछे पड़ने वाले तो पतिव्रता को भी छिनाल बना देते हैं। मेरे ये श्रद्धालु मुझे पक्का श्रद्धेय बनाने पर तुले हैं। पक्के सिद्ध-श्रद्धेय मैंने देखे हैं। सिद्ध मकरध्वज होते हैं। उनकी बनावट ही अलग होती है। चेहरा, आंखे खींचने वाली। पांव ऐसे कि बरबस आदमी झुक जाए। पूरे व्यक्तित्व पर 'श्रद्धेय' लिखा होता है। मुझे ये बड़े बौड़म लगते हैं। पर ये पक्के श्रद्धेय होते हैं। ऐसे एक के पास मैं अपने मित्र के साथ गया था। मित्र ने उनके चरण छुए जो उन्होंने विकट ठंड में भी श्रद्धालुओं की सुविधा के लिए चादर से बाहर निकाल रखे थे। मैंने उनके चरण नहीं छुए। नमस्ते करके बैठ गया। अब एक चमत्कार हुआ। होना यह था कि उन्हें हीनता का बोध होता कि मैंने उन्हें श्रद्धा के योग्य नहीं समझा। हुआ उल्टा। उन्होंने मुझे देखा। और हीनता का बोध मुझे होने लगा- हाय मैं इतना अधम कि अपने को इनके पवित्र चरणों को छूने के लायक नहीं समझता। सोचता हूं, ऐसा बाध्य करने वाला रोब मुझ ओछे श्रद्धेय में कब आयेगा।

श्रद्धेय बन जाने की इस हल्की सी इच्छा के साथ ही मेरा डर बरकरार है। श्रद्धेय बनने का मतलब है 'नान परसन'-'अव्यक्ति' हो जाना। श्रद्धेय वह होता है जो चीजों को हो जाने दे। किसी चीज का विरोध न करे- जबकि व्यक्ति की, चरित्र की, पहचान ही यह है कि वह किन चीजों का विरोध करता है। मुझे लगता है, लोग मुझसे कह रहे हैं- तुम अब कोने में बैठो। तुम दयनीय हो। तुम्हारे लिए सब कुछ हो जाया करेगा। तुम कारण नहीं बनोगे। मक्खी भी हम उड़ाएंगे।

और फिर श्रद्धा का यह कोई दौर है देश में? जैसा वातावरण है, उसमें किसी को भी श्रद्धा रखने में संकोच होगा। श्रद्धा पुराने अखबार की तरह रद्दी में बिक रही है। विश्वास की फसल को तुषार मार गया। इतिहास में शायद कभी किसी जाति को इस तरह श्रद्धा और विश्वास से हीन नहीं किया गया होगा। जिस नेतृत्व पर श्रद्धा थी, उसे नंगा किया जा रहा है। जो नया नेतृत्व आया है, वह उतावली में अपने कपड़े खुद उतार रहा है। कुछ नेता तो अंडरवियर में ही हैं। कानून से विश्वास गया। अदालत से विश्वास छीन लिया गया। बुद्धिजीवियों की नस्ल पर ही शंका की जा रही है। डॉक्टरों को बीमारी पैदा करने वाला सिद्ध किया जा रहा है। कहीं कोई श्रद्धा नहीं विश्वास नहीं।

अपने श्रद्धालुओं से कहना चाहता हूं- "यह चरण छूने का मौसम नहीं, लात मारने का मौसम है। मारो एक लात और क्रांतिकारी बन जाओ।"

सदाचार का तावीज

एक राज्य में हल्ला मचा कि भ्रष्टाचार बहुत फैल गया है।

राजा ने एक दिन दरबारियों से कहा- "प्रजा बहुत हल्ला मचा रही है कि सब जगह भ्रष्टाचार फैला हुआ है। हमें तो आज तक कहीं नहीं दिखा। तुम लोगों को कहीं दिखा हो तो बताओ।"

दरबारियों ने कहा- "जब हुजूर को नहीं दिखा तो हमें कैसे दिख सकता है?"

राजा ने कहा- "नहीं, ऐसा नहीं है। कभी-कभी जो मुझे नहीं दिखता, वह तुम्हें दिखता होगा। जैसे मुझे बुरे सपने नहीं दिखते पर तुम्हें तो दिखते होंगे!"

दरबारियों ने कहा- "जी, दिखते हैं। पर वह सपनों की बात है।"

राजा ने कहा- "फिर भी तुम लोग सारे राज्य में ढूंढकर देखो कि कहीं भ्रष्टाचार तो नहीं है। अगर कहीं मिल जाए तो हमारे देखने के लिए नमूना लेते आना। हम भी तो देखें कि कैसा होता है।"

एक दरबारी ने कहा- "हुजूर वह हमें नहीं दिखेगा। सुना है, वह बहुत बारीक होता है। हमारी आंखें आपकी विराटता देखने की इतनी आदी हो गयी हैं कि हमें बारीक चीज नहीं दिखतीं। हमें भ्रष्टाचार दिखा भी तो उसमें हमें आपकी ही छवि दिखेगी क्योंकि हमारी आंखों में तो आपकी ही सूरत बसी है। पर अपने राज्य में एक जाति रहती है जिसे 'विशेषज्ञ' कहते हैं। इस जाति के पास कुछ ऐसा अंजन होता है कि उसे आंखों में आंजकर वे बारीक चीज भी देख लेते हैं। मेरा निवेदन है कि इन विशेषज्ञों को ही हुजूर भ्रष्टाचार ढूंढने का काम सौंपें।"

राजा ने विशेषज्ञ जाति के पांच आदमी बुलाये और कहा- "सुना है, हमारे राज्य में भ्रष्टाचार है। पर वह कहां है यह पता नहीं चलता। तुम लोग उसका पता लगाओ। अगर मिल जाये तो पकड़कर हमारे पास ले आना। अगर बहुत हो तो नमूने के लिए थोड़ा सा ले आना।"

विशेषज्ञों ने उसी दिन से छानबीन शुरू कर दी।

दो महीने बाद वे फिर से दरबार में हाजिर हुए।

राजा ने पूछा- "विशेषज्ञों, तुम्हारी जांच पूरी हो गयी?"

"जी, सरकार।"

"क्या तुम्हें भ्रष्टाचार मिला?"

"जी, बहुत सा मिला।"

राजा ने हाथ बढ़ाया- "लाओ, मुझे दिखाओ। देखूं, कैसा होता है।"

विशेषज्ञों ने कहा- "हुजूर वह हाथ की पकड़ में नहीं आता। वह स्थूल नहीं, सूक्ष्म है, अगोचर है। पर वह सर्वत्र व्याप्त है। उसे देखा नहीं जा सकता, अनुभव किया जा सकता है।"

राजा सोच में पड़ गये। बोले- "विशेषज्ञों, तुम कहते हो कि वह सूक्ष्म है, अगोचर है और सर्वव्यापी है। ये गुण तो ईश्वर के हैं। तो क्या भ्रष्टाचार ईश्वर है?"

विशेषज्ञों ने कहा- "हां, महाराज, अब भ्रष्टाचार ईश्वर हो गया है।"

एक दरबारी ने पूछा- "पर वह है कहां? कैसे अनुभव होता है?"

विशेषज्ञों ने जवाब दिया- "वह सर्वत्र है। वह इस भवन में है। वह महाराज के सिंहासन में है।"

"सिंहासन में कहां है?" –कहकर राजा साहब उछलकर दूर खड़े हो गये।

विशेषज्ञों ने कहा- "हां, सरकार, सिंहासन में है। पिछले माह इस सिंहासन पर रंग करने के जिस बिल का भुगतान किया गया है, वह बिल झूठा है। वह वास्तव से दुगुने दाम का है। आधा पैसा बीच वाले खा गये। आपके पूरे शासन में भ्रष्टाचार है और वह मुख्यतः घूस के रूप में है।"

विशेषज्ञों की बात सुनकर राजा चिंतित हुए और दरबारियों के कान खड़े हुए।

राजा ने कहा- "यह तो बड़ी चिंता की बात है। हम भ्रष्टाचार बिल्कुल मिटाना चाहते हैं। विशेषज्ञों, तुम बता सकते हो कि वह कैसे मिट सकता है?"

विशेषज्ञों ने कहा- "हां, महाराज, हमने उसकी भी योजना तैयार की है। भ्रष्टाचार मिटाने के लिए महाराज को व्यवस्था में बहुत परिवर्तन करने होंगे। एक तो भ्रष्टाचार के मौके मिटाने होंगे। जैसे ठेका है तो ठेकेदार है। और ठेकेदार है तो अधिकारियों को घूस है। ठेका मिट जाये तो उसकी घूस मिट जाये। इसी तरह और भी बहुत सी चीजें हैं। किन कारणों से आदमी घूस लेता है, यह भी विचारणीय है।"

राजा ने कहा- "अच्छा तुम अपनी पूरी योजना रख जाओ। हम और हमारा दरबार उस पर विचार करेंगे।"

विशेषज्ञ चले गये।

राजा ने और दरबारियों ने भ्रष्टाचार मिटाने की योजना को पढ़ा। उस पर विचार किया।

विचार करते-करते दिन बीतने लगे और राजा का स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। एक दिन एक दरबारी ने आकर कहा- "महाराज चिंता के कारण आपका स्वास्थ्य बिगड़ता जा रहा है। उन विशेषज्ञों ने आपको झंझट में डाल दिया।"

राजा ने कहा- "हां, मुझे रात को नींद नहीं आती।"

दूसरा दरबारी बोला- "ऐसी रिपोर्ट को आग के हवाले कर देना चाहिए जिससे महाराज की नींद में खलल पड़े।"

राजा ने कहा- "पर करें क्या? तुम लोगों ने भी भ्रष्टाचार मिटाने की योजना का अध्ययन किया है। तुम्हारा क्या मत है? क्या उसे काम में लाना चाहिए?"

दरबारियों ने कहा- "महाराज, यह योजना क्या है, एक मुसीबत है। उसके अनुसार कितने उलटफेर करने पड़ेंगे! कितनी परेशानी होगी! सारी व्यवस्था उलट-पलट हो जायेगी। जो चला आ रहा है उसे बदलने से नयी-नयी कठिनाईयां पैदा हो सकती हैं। हमें तो कोई ऐसी तरकीब चाहिए जिससे बिना कुछ उलटफेर किये भ्रष्टाचार मिट जाये।"

राजा साहब बोले- "मैं भी यही चाहता हूं। पर यह हो कैसे? हमारे प्रपितामह को जादू आता था; हमें वह भी नहीं आता। तुम लोग ही कोई उपाय खोजो।"

एक दिन दरबारियों ने राजा के सामने एक साधु को पेश किया और कहा- "महाराज, एक कंदरा में तपस्या करते हुए इन महान साधक को हम ले आये हैं। इन्होंने सदाचार का तावीज बनाया है। वह मंत्रों से सिद्ध है। और उसके बांधने से आदमी एकदम सदाचारी हो जाता है।"

साधु ने अपने झोले से एक तावीज निकालकर राजा को दी। राजा ने उसे देखा बोले- "हे साधु, इस तावीज के विषय में मुझे विस्तार से बताओ। इससे आदमी सदाचारी कैसे हो जाता है?"

साधु ने समझाया- "महाराज, भ्रष्टाचार और सदाचार मनुष्य की आत्मा में होता है; बाहर से नहीं आता। विधाता जब मनुष्य को बनाता है तब किसी आत्मा में ईमान की कल फिट कर देता है और किसी की आत्मा में बेईमानी की। इस कल में से ईमान या बेईमानी के स्वर निकलते हैं जिन्हें 'आत्मा की पुकार' कहते हैं। आत्मा की पुकार के अनुसार ही आदमी काम करता है। प्रश्न यह है कि जिनकी आत्मा से बेईमानी के स्वर निकलते हैं, उन्हें दबाकर ईमान के स्वर कैसे निकाले जाएं? मैं कई वर्षों से इसी के चिंतन में लगा हूं। अभी मैंने यह सदाचार का तावीज बनाया है। जिस आदमी की भुजा पर यह बंधा होगा वह सदाचारी हो जायेगा। मैंने कुत्ते पर भी यह प्रयोग किया है। यह तावीज गले में बांध देने से कुत्ता भी रोटी नहीं चुराता। बात यह है कि इस तावीज में से सदाचार के स्वर निकलते हैं। जब किसी की आत्मा बेईमानी के स्वर निकालने लगती है तब इस तावीज की शक्ति आत्मा का गला घोंट देती है और आदमी को तावीज के

ईमान के स्वर सुनाई पड़ते हैं। वह इन स्वरों को आत्मा की पुकार समझकर सदाचार की ओर प्रेरित होता है। यही इस तावीज का गुण है, महाराज।"

दरबार में हलचल मच गयी। दरबारी उठ-उठकर तावीज को देखने लगे।

राजा ने खुश होकर कहा- "मुझे नहीं मालूम था कि मेरे राज्य में ऐसे चमत्कारी साधु भी हैं। महात्मन्, हम आपके बहुत आभारी हैं। आपने हमारा संकट हर लिया। हम सर्वव्यापी भ्रष्टाचार से बहुत परेशान थे। मगर हमें लाखों नहीं करोड़ों तावीज चाहिए। हम राज्य की ओर से तावीजों का एक कारखाना खोल देते हैं। आप उसके जनरल मैनेजर बन जायें और अपनी देख-रेख में बढ़िया तावीज बनवायें।"

एक मंत्री ने कहा- "महाराज, राज्य क्यों इस झंझट में पड़े? मेरा तो निवेदन है कि साधु बाबा को ठेका दे दिया जाये। वे अपनी मंडली से तावीज बनवाकर राज्य को सप्लाई कर देंगे।"

राजा को यह सुझाव पसंद आया। साधु को तावीज बनाने का ठेका दे दिया गया। उसी समय पांच करोड़ रुपये कारखाना खोलने के लिए पेशगी मिल गई।

राजा के अखबारों में खबरें छपीं- 'सदाचार के तावीज की खोज', 'तावीज बनाने का कारखाना खुला'

लाखों तावीज बन गये। सरकार के हुक्म से हर सरकारी कर्मचारी की भुजा पर एक-एक तावीज बांध दिया गया।

भ्रष्टाचार की समस्या का ऐसा सरल हल निकल आने से राजा और दरबारी सब खुश थे।

एक दिन राजा की उत्सुकता जागी। सोचा- 'देखें तो कि यह तावीज कैसे काम करता है।'

वह वेश बदलकर एक कार्यालय गये। उस दिन 2 तारीख थी। एक दिन पहले ही तनख्वाह मिली थी।

वह एक कर्मचारी के पास गये और कई काम बताकर उसे पांच रुपये का नोट देने लगे।

कर्मचारी ने उन्हें डांटा- "भाग जाओ यहां से! घूस लेना पाप है!"

राजा बहुत खुश हुए। तावीज ने कर्मचारी को ईमानदार बना दिया था।

कुछ दिन बाद वह फिर वेश बदलकर उसी कर्मचारी के पास गये। उस दिन इकतीस तारीख थी- महीने का आखिरी दिन।

राजा ने उसे पांच का नोट दिखाया और उसने लेकर जेब में रख लिया।

राजा ने उसका हाथ पकड़ लिया। बोले- "मैं तुम्हारा राजा हूं। क्या तुम आज सदाचार का तावीज बांधकर नहीं आये?"

"बांधा है, सरकार, यह देखिए!"

उसने आस्तीन चढ़ाकर तावीज दिखा दिया।

राजा असमंजस में पड़ गये। फिर ऐसा कैसे हो गया?

उन्होने तावीज पर कान लगाकर सुना। तावीज में से स्वर निकल रहे थे- "अरे, आज इकतीस है। आज तो ले ले!"

वैष्णव की फिसलन

वैष्णव करोड़पति है। भगवान विष्णु का मन्दिर। जायदाद लगी है। भगवान सूदखोरी करते हैं। ब्याज से कर्ज देते हैं। वैष्णव दो घंटे भगवान विष्णु की पूजा करते हैं, फिर गादी-तकिये वाली बैठक में बैठकर धर्म को धन्धे से जोड़ते हैं। धर्म धन्धे से जुड़ जाये इसी को 'योग' कहते हैं। कर्ज लेने वाले आते हैं। विष्णु भगवान के वे मुनीम हो जाते हैं। कर्ज लेने वाले से दस्तावेज लिखवाते हैं-

'दस्तावेज लिख दी रामलाल वल्द श्यामलाल ने भगवान विष्णु वल्द नामालूम को ऐसा जो कि-..............'

वैष्णव बहुत दिनों से विष्णु के पिता के नाम की तलाश में हैं, पर वह मिल नहीं रहा। मिल जाय तो वल्दियत ठीक हो जाय।

वैष्णव के पास नम्बर दो का बहुत पैसा हो गया है। कई एजेंसियाँ ले रखी हैं। स्टाकिस्ट हैं। जब चाहे माल दबाकर 'ब्लैक' करने लगते हैं। मगर दो घंटे विष्णु-पूजा में कभी नागा नहीं करते। सब प्रभु की कृपा से हो रहा है। उनके प्रभु भी शायद दो नम्बरी हैं। एक नम्बरी होते तो शायद ऐसा नहीं करने देते।

वैष्णव सोचता है- अपार नम्बर दो का पैसा इकट्ठा हो गया है। इसका क्या किया जाय? बढ़ता ही जाता है। प्रभु की लीला है। वही आदेश देंगे कि क्या किया जाय।

वैष्णव एक दिन प्रभु की पूजा के बाद हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगा, "प्रभु, आपके ही आशीर्वाद से मेरे पास इतना सारा दो नम्बर का धन इकट्ठा हो गया है। अब मैं इसका क्या करूं? आप ही रास्ता बताईये। मैं इसका क्या करूं? प्रभु कष्ट हरो सबका।"

तभी वैष्णव की शुद्ध आत्मा से आवाज उठी, "अधम माया जोड़ी है तो माया का उपयोग भी सीख। तू एक बड़ा होटल खोल। आजकल होटल बहुत चल रहे हैं।"

वैष्णव ने प्रभु का आदेश मानकर एक विशाल होटल बनवाया। बहुत अच्छे कमरे। खूबसूरत बाथरूम। नीचे लाण्ड्री। नाई की दुकान। टैक्सियां। बाहर बढ़िया लॉन। ऊपर टैरेस गार्डन।

और वैष्णव ने खूब विज्ञापन करवाया।

कमरे का किराया तीस रुपया रखा।

फिर वैष्णव के सामने धर्म-संकट आया। भोजन कैसा होगा? उसने सलाहकारों से कहा, "मैं वैष्णव हूं। शुद्ध-शकाहारी भोजन कराऊंगा। शुद्ध घी की सब्जी, फल, दाल, रायता, पापड़ वगैरह।"

बड़े होटल का नाम सुनकर बड़े लोग आने लगे। बड़ी-बड़ी कंपनियों के एक्जीक्यूटिव, बड़े अफसर और बड़े सेठ।

वैष्णव संतुष्ट हुआ।

पर फिर वैष्णव ने देखा कि होटल में ठहरने वाले थोड़े असंतुष्ट हैं।

एक दिन एक कंपनी का एक्जीक्यूटिव बड़े तैश में वैष्णव के पास आया। कहने लगा, "इतने महंगे होटल में हम क्या यह घास-पत्ती खाने के लिए ठहरते हैं? यहां नानवेज का इंतजाम क्यों नहीं है?"

वैष्णव ने जवाब दिया, "मैं वैष्णव हूं। मैं गोश्त का इंतजाम अपने होटल में कैसे कर सकता हूं?"

उस आदमी ने कहा, "वैष्णव हो तो ढाबा खोलो। आधुनिक होटल क्यों खोलते हो? तुम्हारे यहां आगे कोई नहीं ठहरेगा।"

वैष्णव ने कहा, "यह धर्मसंकट की बात है। मैं प्रभु से पूछूंगा।"

उस आदमी ने कहा, "हम भी बिजनेस में हैं। हम कोई धर्मात्मा नहीं हैं- न आप, न मैं।"

वैष्णव ने कहा, "पर मुझे तो यह सब प्रभु विष्णु ने दिया है। मैं वैष्णव धर्म के प्रतिकूल कैसे जा सकता हूं? मैं प्रभु के सामने नतमस्तक होकर उनका आदेश लूंगा।"

दूसरे दिन वैष्णव साष्टांग विष्णु के सामने लेट गया। कहने लगा, "प्रभु, यह होटल बैठ जाएगा। ठहरने वाले कहते हैं कि हमें यहां बहुत तकलीफ होती है। मैंने तो प्रभु वैष्णव भोजन का प्रबंध किया है। पर वे मांस मांगते हैं। अब मैं क्या करूं?:"

वैष्णव की शुद्ध आत्मा से आवाज आयी, "मूर्ख, गांधीजी से बड़ा वैष्णव इस युग में कौन हुआ है? गांधी का भजन है- 'वैष्णव जन तो तेणे कहिए, जे पीर पराई जाणे रे।' तू इन होटल में रहने वालों की पीर क्यों नहीं जानता? उन्हें इच्छानुसार खाना नहीं मिलता। उनकी पीर तू समझ और उस पीर को दूर कर।"

वैष्णव समझ गया।

उसने जल्दी ही गोश्त, मुर्गा, मछली का इंतजाम करवा दिया।

होटल के ग्राहक बढ़ने लगे।

मगर एक दिन फिर वही एक्जीक्यूटिव आया।

कहने लगा, "हां, अब ठीक है। मांसाहार अच्छा मिलने लगा। पर एक बात है।"

वैष्णव ने पूछा, "क्या?"

उसने जवाब दिया, "गोश्त के पचने की दवाई भी तो चाहिए।"

वैष्णव ने कहा, "लवणभास्कर चूर्ण का इंतजाम करवा दूं?"

एक्जीक्यूटिव ने माथा ठोंका।

कहने लगा, "आप कुछ नहीं समझते। मेरा मतलब है- शराब। यहां बॉर खोलिए।"

वैष्णव सन्न रह गया। शराब यहां कैसे पी जायगी? मैं प्रभु के चरणमृत का प्रबंध तो कर सकता हूं। पर मदिरा, हे राम!"

दूसरे दिन वैष्णव ने फिर प्रभु से कहा, "प्रभु, वे लोग मदिरा मांगते हैं। मैं आपका भक्त मदिरा कैसे पिला सकता हूं?"

वैष्णव की पवित्र आत्मा से आवाज आयी, 'मूर्ख, तू क्या होटल बिठाना चाहता है? देवता सोमरस पीते थे। वही सोमरस यह मदिरा है। इसमें तेरा वैष्णव धर्म कहां भंग होता है? सामवेद में 63 श्लोक सोमरस अर्थात मदिरा की स्तुति में हैं। तुझे धर्म की समझ है या नहीं?'

वैष्णव समझ गया।

उसने होटल में बॉर खोल दिया।

अब होटल ठाठ से चलने लगा। वैष्णव खुश था।

फिर एक दिन एक आदमी आया। कहने लगा, "अब होटल ठीक है। शराब भी है। गोश्त भी है। मगर मरा हुआ गोश्त है। हमें जिंदा गोश्त भी चाहिए।"

वैष्णव ने पूछा, "यह जिंदा गोश्त कैसा होता है?"

उसने कहा, "कैबरे, जिसमें औरत नंगी होकर नाचती है।"

वैष्णव ने कहा, "अरे बाप रे!"

उस आदमी ने कहा, "इसमें 'अरे बाप रे' की कोई बात नहीं। सब बड़े होटलों में चलता है। यह शुरू कर दो तो कमरों का किराया बढ़ा सकते हो।"

वैष्णव ने कहा, "मैं कट्टर वैष्णव हूं। मैं प्रभु से पूछूंगा।"

दूसरे दिन फिर वैष्णव प्रभु के चरणों में था। कहने लगा, "प्रभु, वे लोग कहते हैं कि होटल में नाच भी होना चाहिए। आधा नंगा या पूरा नंगा।"

वैष्णव की शुद्ध आत्मा से आवाज आयी, 'मूर्ख, कृष्णावतार में मैंने गोपियों को नचाया था। चीर-हरण तक किया था। तुझे क्या संकोच है?'

प्रभु की आज्ञा से वैष्णव ने 'कैबरे' भी चालू कर दिया।

अब कमरे भरे रहते थे- शराब, गोश्त और कैबरे।

वैष्णव बहुत खुश था। प्रभु की कृपा से होटल भरा रहता था।

कुछ दिनों बाद एक ग्राहक ने बेयरा से कहा, "इधर कुछ और भी मिलता है?"

बेयरा ने पूछा, "और क्या साब?"

ग्राहक ने कहा, "अरे यही मन बहलाने की कुछ। कोई ऊंचे किस्म का माल मिले तो लाओ।"

बेयरा ने कहा, "नहीं साब, इस होटल में यह नहीं चलता।"

ग्राहक वैष्णव के पास गया। बोला, "इस होटल में कौन ठहरेगा? इधर रात को मन बहलाने का कोई इंतजाम नहीं है।"

वैष्णव ने कहा, "कैबरे तो है साहब।"

ग्राहक ने कहा, "कैबरे तो दूर का होता है। बिलकुल पास का चाहिए, गर्म माल, कमरे में।"

वैष्णव फिर धर्म-संकट में पड़ गया।

दूसरे दिन वैष्णव फिर प्रभु की सेवा में गया। प्रार्थना की, "कृपानिधान ग्राहक लोग नारी मांगते हैं- पाप की खान। मैं तो इस पाप की खान से जहां तक बनता है, दूर रहता हूं। अब मैं क्या करूं?"

वैष्णव की शुद्ध आत्मा से आवाज आयी, 'मूर्ख, यह तो प्रकृति और पुरुष का संयोग है। इसमें क्या पाप और पुण्य। चलने दे।'

वैष्णव ने बेयरों से कहा, "चुपचाप इंतजाम कर दिया करो। जरा पुलिस से बचकर। 25 फीसदी भगवान की भेंट ले लिया करो।"

अब वैष्णव का होटल खूब चलने लगा।

शराब, गोश्त, कैबरे और औरत।

वैष्णव धर्म बराबर निभ रहा है।

इधर यह भी चल रहा है।

वैष्णव ने धर्म को धन्धे से खूब जोड़ा है।

विकलांग राजनीति

चुनाव के समय हर चीज का महत्व बढ़ जाता है। मेरी टांग की कीमत भी बढ़ी।

मुझे यह मुगालता है कि मेरी टांग में फ्रेक्चर हो गया था, यह खबर सारे विश्व में फैल चुकी है। मुझे यह सुखद भ्रम न होता तो मेरी टांग इतनी जल्दी ठीक न होती। यश की खुशफहमी का प्लास्टर उपर से चढ़ा लिया था मैंने।

चुनाव प्रचार जब गर्मी पर था, तब मैं सहारे से लंगड़ाकर चलने लगा था। मैं दुखी था कि टूटी टांग के कारण मैं जनतंत्र को भावी रूप नहीं दे पा रहा हूं।

पर एक दिन दो-तीन राजनीति के लोग मेरे पास आए। वे जनता पार्टी के थे। पहले उन्होंने बड़ी चिंता से मेरी तबियत का हाल पूछा। मैंने बताया, तब उन्होंने कहा, "जरा चार कदम चलकर बतावेंगे।"

मैंने लंगड़ाते हुए चलकर बताया।

उन लोगों ने एक-दूसरे की तरफ देखा।

एक ने कहा, "वेरी गुड। इतने से काम चल जाएगा।"

दूसरे ने कहा, "लेकिन टांग के बाहर कुछ चोट के निशान भी दिखने चाहिए।"

तीसरे ने कहा, "कोई मुश्किल नहीं है। हम हल्के से कुछ घाव बना देंगे। परसाईजी को तकलीफ भी नहीं होगी। उपर से पट्टी बांध देंगे।"

मैने कहा, "आप लोगों की बात मेरी समझ में नहीं आ रही।"

उन्होंने कहा, "हम आपसे एक प्रार्थना करने आए हैं। आप प्रबुद्ध आदमी हैं। आप जानते ही हैं कि यह ऐतिहासिक चुनाव है। तानाशही और जनतंत्र में संघर्ष है। इस सरकार ने नागरिक अधिकार छीन लिए हैं। वाणी की स्वतंत्रता छीन ली है। हजारों नागरिकों को बेकसूर जेल में रखा। न्यायपालिका के अधिकार नष्ट किए। जनता पार्टी इस तानाशाही को खत्म करके जनतंत्र की पुनः स्थापना करने के लिए चुनाव लड़ रही है। इस पवित्र कार्य में आपका सहयोग चाहिए।"

मैंने पूछा, "मैं कैसे सहयोग कर सकता हूं?"

वे बोले, "हमारा मतलब है आपकी टांग का सहयोग चाहिए।"

मैंने आश्चर्य से कहा, "मेरी टांग? अरे भई, मैं हूं तो मेरी टांग है।"

उन्होंने कहा, "नहीं टांग टूटने से उसका अलग व्यक्तित्व हो गया है। बल्कि टूटी टांग ने राष्ट्रीय जीवन में आपको महत्वपूर्ण बना दिया है। हमें अनुमति दीजिए कि हम प्रचार कर दें कि कांग्रेसियों ने आपकी टांग तोड़ दी। इससे सारे देश में कांग्रेस के विरुद्ध वातावरण बनेगा।"

मैंने जवाब दिया, "मैं यह झूठा प्रचार नहीं करना चाहता।"

एक ने कहा, "जरा सोचिए- देश के लिए, जनतंत्र के लिए।"

दूसरे ने कहा, "मानव-अधिकारों के हेतु। मानव गरिमा के लिए। आखिर आप समाज-चेता लेखक हैं।"

मैंने उनकी बात नहीं मानी। मुझे मेरी टांग की चिंता थी। मैं किसी को शब्द से भी टांग छूने नहीं देना चाहता था।

शाम को कांग्रेस के दो-तीन लोग आ गये। उन्होंने भी मेरी टांग की जांच की और कहा, "इससे अपना काम बन जाएगा।"

मैंने पूछा, "बात क्या है?"

उन्होंने कहा, "आपको क्या समझाना। आप स्वयं प्रबुद्ध हैं। इस समय देश का भविष्य संकट में है। यदि जनता पार्टी जीत गई तो देश खंड-खंड हो जाएगा। विकास कार्य रुक जावेंगे। जनता पार्टी में शामिल दल घोर दक्षिणपंथी प्रतिक्रियावादी हैं। वे सार्वजनिक क्षेत्र को खतम कर देंगे। वे इस देश को अमेरिका के पास गिरवी रख देंगे।"

मैंने पूछा, "तो मैं क्या करूं?"

उन्होंने कहा, "आपको कुछ नहीं करना है। करना हमें ही है। कांग्रेस खुद ही सब करती है। तीस सालों से, यहां तक कि, हम हारते भी हैं, तो दूसरे से नहीं- कांग्रेस ही कांग्रेस को हराती है। आप हमें इतनी छूट दे दें कि हम यह प्रचार कर सकें कि जनता पार्टी के लोगों ने आपकी टांग तोड़ दी है। इससे जनता इस पार्टी के खिलाफ हो जाएगी।"

मैंने उनसे भी कहा, "मैं अपनी टांग के बारे में यह झूठा प्रचार नहीं होने दूंगा।"

एक ने कहा, "इस देश क लिए।:"

दूसरे ने कहा, "सशक्त केंद्र के लिए।"

तीसरे ने कहा, "प्रगतिशील नीतियों के लिए।"

मैं राजी नहीं हुआ।

दूसरे दिन जनता पार्टी वाले फिर आ गए।

उन्होंने छूटते ही पूछा, "आखिर आपका 'रेट' क्या है?"

मैंने क्रोध से कहा, "मैं क्या रंडी हूं कि मेरा रेट होगा।"

उन्होंने कहा, "हमारा मतलब है कि अपनी टूटी टांग के उपयोग के लिए आप क्या लेंगे? पांच सौ काफी होंगे?"

मैंने उन्हें डांटा। वे जाते-जाते कह गये, "आपको हमसे असहयोग का फल भोगना पड़ेगा। आपको इस सरकार ने इलाज के लिए रुपये दिए थे। हमारी सरकार बनने पर हम इसकी जांच करवाएंगे और सारा पैसा आपसे वसूल किया जाएगा।"

थोड़ी देर बाद कांग्रेसी फिर आ गये।

कहने लगे, "बड़े शर्म की बात है। आप प्रगतिशील बनते हैं मगर पांच सौ रुपयों में अपने को प्रतिक्रियावादियों को बेच दिया। पैसा ही चाहिए था तो हमसे हजार ले

लीजिए। अभी हमारी सरकार ने आपको काफी रुपये इलाज के लिए दिए। मगर आप इतने अहसान-फरामोश हैं कि हमारे ही खिलाफ हो गए।"

मैंने कहा, "मैं नहीं बिका। मैंने जनता पार्टी की बात नहीं मानी। मैं आपकी बात भी नहीं मानूंगा। मेरी टांग किसी का चुनाव-पोस्टर नहीं बन सकती।"

इतने में जनता पार्टी वाले फिर आ गए। उन्हें देख कांग्रेसी चिल्लाए, "आ गए आप लोग परसाईजी को पांच सौ रुपये में खरीदने के लिए।"

जनता वालों ने कहा, "पांच सौ? इस दो कौड़ी के लेखक को हम पांच सौ देंगे। तुम्ही उसे हजार में खरीदने आए हो।"

कांग्रेसियों ने कहा, "अरे, हजार रुपये हम इस कूड़ा लेखक को देंगे।"

अब दोनों पार्टीवालों में लड़ाई शुरू हो गई।

पहले वे एक-दूसरे के 'साले' बने। इस रिश्ते के कायम होने से मुझे विश्वास हो गया कि देश में मिली-जुली स्थाई सरकार बन जावेगी।

फिर कुछ 'मादर' वगैरह हुआ। इससे लैंगिक नैतिकता में एक मानदंड स्थापित हुआ।

फिर मारपीट हुई।

मैंने कहा, "आप दोनों का काम बिना पैसे खर्च किए हो गया। अब मेरी टांग की जरूरत आपको नहीं है। आपके अपने सिर फूटे हैं। और नाक में से खून बह रहा है। अब प्रचार कीजिए। जनतंत्र के लिए, देश के लिए। मैं गवाह बनने को तैयार हूं।"

एक मध्यवर्गीय कुत्ता

मेरे मित्र की कार बंगले में घुसी तो उतरते हुए मैंने पूछा, "इनके यहां कुत्ता तो नहीं है?" मित्र ने कहा, "तुम कुत्ते से बहुत डरते हो!" मैंने कहा, "आदमी की शक्ल में कुत्ते से नहीं डरता. उनसे निपट लेता हूं. पर सच्चे कुत्ते से बहुत डरता हूं."

कुत्तेवाले घर मुझे अच्छे नहीं लगते. वहां जाओ तो मेजबान के पहले कुत्ता भौंककर स्वागत करता है. अपने स्नेही से "नमस्ते" हुई ही नहीं कि कुत्ते ने गाली दे दी- "क्यों यहां आया बे? तेरे बाप का घर है? भाग यहां से !"

फिर कुत्ते का काटने का डर नहीं लगता- चार बार काट ले. डर लगता है उन चौदह बड़े इंजेक्शनों का जो डॉक्टर पेट में घुसेड़ता है. यूं कुछ आदमी कुत्ते से अधिक ज़हरीले होते हैं. एक परिचित को कुत्ते ने काट लिया था. मैंने कहा, "इन्हें कुछ नहीं होगा. हालचाल उस कुत्ते का पूछो और इंजेक्शन उसे लगाओ."

एक नये परिचित ने मुझे घर पर चाय के लिए बुलाया. मैं उनके बंगले पर पहुंचा तो फाटक पर तख्ती टंगी दीखी- "कुत्ते से सावधान!" मैं फ़ौरन लौट गया.

कुछ दिनों बाद वे मिले तो शिकायत की, "आप उस दिन चाय पीने नहीं आये." मैंने कहा, "माफ़ करें. मैं बंगले तक गया था. वहां तख्ती लटकी थी- 'कुत्ते से सावधान.' मेरा ख़्याल था, उस बंगले में आदमी रहते हैं. पर नेमप्लेट कुत्ते की टंगी हुई दीखी." यूं कोई-कोई आदमी कुत्ते से बदतर होता है. मार्क ट्वेन ने लिखा है- 'यदि आप भूखे मरते कुत्ते को रोटी खिला दें, तो वह आपको नहीं काटेगा.' कुत्ते में और आदमी में यही मूल अंतर है.

बंगले में हमारे स्नेही थे. हमें वहां तीन दिन ठहरना था. मेरे मित्र ने घण्टी बजायी तो जाली के अंदर से वही "भौं-भौं" की आवाज़ आयी. मैं दो क़दम पीछे हट गया. हमारे मेजबान आये. कुत्ते को डांटा- 'टाइगर, टाइगर!' उनका मतलब था- 'शेर, ये लोग कोई चोर-डाकू नहीं हैं. तू इतना वफ़ादार मत बन.'

कुत्ता ज़ंजीर से बंधा था. उसने देख भी लिया था कि हमें उसके मालिक खुद भीतर ले जा रहे हैं पर वह भौंके जा रहा था. मैं उससे काफ़ी दूर से लगभग दौड़ता हुआ भीतर गया. मैं समझा, यह उच्चवर्गीय कुत्ता है. लगता ऐसा ही है. मैं उच्चवर्गीय का बड़ा अदब करता हूं. चाहे वह कुत्ता ही क्यों न हो. उस बंगले में मेरी अजब स्थिति थी. मैं हीनभावना से ग्रस्त था- इसी अहाते में एक उच्चवर्गीय कुत्ता और इसी में मैं! वह मुझे हिकारत की नज़र से देखता.

शाम को हम लोग लॉन में बैठे थे. नौकर कुत्ते को अहाते में घुमा रहा था. मैंने देखा, फाटक पर आकर दो 'सड़किया' आवारा कुत्ते खड़े हो गए. वे सर्वहारा कुत्ते थे. वे इस कुत्ते को बड़े गौर से देखते. फिर यहां-वहां घूमकर लौट आते और इस कुत्ते को देखते रहते. पर यह बंगलेवाला उन पर भौंकता था. वे सहम जाते और यहां-वहां हो जाते. पर फिर आकर इस कुत्ते को देखने लगते. मेजबान ने कहा, "यह हमेशा का सिलसिला है. जब भी यह अपना कुत्ता बाहर आता है, वे दोनों कुत्ते इसे देखते रहते हैं."

मैंने कहा, "पर इसे उन पर भौंकना नहीं चाहिए. यह पट्टे और ज़ंजीरवाला है. सुविधाभोगी है. वे कुत्ते भुखमरे और आवारा हैं. इसकी और उनकी बराबरी नहीं है. फिर यह क्यों चुनौती देता है!"

रात को हम बाहर ही सोए. ज़ंजीर से बंधा कुत्ता भी पास ही अपने तखत पर सो रहा था. अब हुआ यह कि आसपास जब भी वे कुत्ते भौंकते, यह कुत्ता भी भौंकता. आखिर यह उनके साथ क्यों भौंकता है? यह तो उन पर भौंकता है. जब वे मोहल्ले में भौंकते हैं तो यह भी उनकी आवाज़ में आवाज़ मिलाने लगता है, जैसे उन्हें आश्वासन देता हो कि मैं यहां हूं, तुम्हारे साथ हूं.

मुझे इसके वर्ग पर शक़ होने लगा है. यह उच्चवर्गीय कुत्ता नहीं है. मेरे पड़ोस में ही एक साहब के पास थे दो कुत्ते. उनका रोब ही निराला ! मैंने उन्हें कभी भौंकते नहीं सुना. आसपास के कुत्ते भौंकते रहते, पर वे ध्यान नहीं देते थे. लोग निकलते, पर वे झपटते भी नहीं थे. कभी मैंने उनकी एक धीमी गुर्राहट ही सुनी होगी. वे बैठे रहते या घूमते रहते. फाटक खुला होता, तो भी वे बाहर नहीं निकलते थे. बड़े रोबीले, अहंकारी और आत्मतुष्ट.

यह कुत्ता उन सर्वहारा कुत्तों पर भौंकता भी है और उनकी आवाज़ में आवाज़ भी मिलाता है. कहता है- 'मैं तुममें शामिल हूं.' उच्चवर्गीय झूठा रोब भी और संकट के आभास पर सर्वहारा के साथ भी- यह चरित्र है इस कुत्ते का. यह मध्यवर्गीय चरित्र है. यह मध्यवर्गीय कुत्ता है. उच्चवर्गीय होने का ढोंग भी करता है और सर्वहारा के साथ मिलकर भौंकता भी है. तीसरे दिन रात को हम लौटे तो देखा, कुत्ता त्रस्त पड़ा है. हमारी आहट पर वह भौंका नहीं,

थोड़ा-सा मरी आवाज़ में गुर्राया. आसपास वे आवारा कुत्ते भौंक रहे थे, पर यह उनके साथ भौंका नहीं. थोड़ा गुर्राया और फिर निढाल पड़ गया. मैंने मेजबान से कहा, "आज तुम्हारा कुत्ता बहुत शांत है."

मेजबान ने बताया, "आज यह बुरी हालत में है. हुआ यह कि नौकर की गफ़लत के कारण यह फाटक से बाहर निकल गया. वे दोनों कुत्ते तो घात में थे ही. दोनों ने इसे घेर लिया. इसे रगेदा. दोनों इस पर चढ़ बैठे. इसे काटा. हालत ख़राब हो गयी. नौकर इसे बचाकर लाया. तभी से यह सुस्त पड़ा है और घाव सहला रहा है. डॉक्टर श्रीवास्तव से कल इसे इंजेक्शन दिलाउंगा."

मैंने कुत्ते की तरफ़ देखा. दीन भाव से पड़ा था. मैंने अन्दाज़ लगाया. हुआ यों होगा-

यह अकड़ से फाटक के बाहर निकला होगा. उन कुत्तों पर भौंका होगा. उन कुत्तों ने कहा होगा- "अबे, अपना वर्ग नहीं पहचानता. ढोंग रचता है. ये पट्टा और ज़ंजीर लगाये हैं. मुफ़्त का खाता है. लॉन पर टहलता है. हमें ठसक दिखाता है. पर रात को जब किसी आसन्न संकट पर हम भौंकते हैं, तो तू भी हमारे साथ हो जाता है. संकट में हमारे साथ है, मगर यों हम पर भौंकेगा. हममें से है तो निकल बाहर. छोड़ यह पट्टा और ज़ंजीर. छोड़ यह आराम. घूरे पर पड़ा अन्न खा या चुराकर रोटी खा. धूल में लोट." यह फिर भौंका होगा. इस पर वे कुत्ते झपटे होंगे. यह कहकर- 'अच्छा ढोंगी. दग़ाबाज़, अभी तेरे झूठे दर्प का अहंकार नष्ट किए देते हैं.'

इसे रगेदा, पटका, काटा और धूल खिलायी.

कुत्ता चुपचाप पड़ा अपने सही वर्ग के बारे में चिन्तन कर रहा है.

असहमत

यह सिर्फ़ दो आदमियों की बातचीत है –

"भारतीय सेना लाहौर की तरफ़ बढ़ गयी- अंतर्राष्ट्रीय सीमा पार करके।"

"हां, सुना तो। छम्ब में पाकिस्तानी सेना को रोकने के लिए यह ज़रूरी है।" "खाक़ ज़रूरी है! जहां वे लड़ें, वहां लड़ना चाहिए या हर कही घुसना चाहिए?"

"हां, उधर नहीं बढ़ना था।" "मगर मैं कहता हूं क्यों नहीं बढ़ना था? उधर से दबाव पड़ेगा तो इधर तुम्हारे बाप रोक सकते हैं उन्हें?" "फिर तो उधर बढ़ना ही ठीक हुआ।"

"ठीक हुआ! ठीक हुआ! कुछ समझते भी हो इसका क्या मतलब होता है? इसका मतलब होता है- टोटल वार! पूर्ण युद्ध! हमला!"

"हां जी, यह तो हमला जैसा ही हो गया।"

“मगर मैं कहता हूं, जो इसे हमला कहता है, वह बेवकूफ़ है। हम तो हमले का मुक़ाबला करने के लिए बढ़े हैं।“ “इस दृष्टि से तो हमारा बढ़ना सुरक्षात्मक कार्रवाई हुआ।“ “मगर सुरक्षात्मक कार्रवाई कहकर तुम दुनिया की नज़रों में धूल नहीं झोंक सकते जो हुआ है, वह सबको दिख रहा है।“

“हां, विल्सन ने तो ऐसा कुछ कहा भी है।“

“तुम विल्सन के कहने की परवाह क्यों करते हो? जो तुम्हें सही दिखे, करो।“ “बिल्कुल ठीक है। जो देश के हित में हो, वही हमें करना चाहिए।“

“देशहित की बात करते हो! देशहित कोई समझता भी है? सिर्फ़ देशहित देखोगे या अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रिया का भी ख़्याल रखोगे?“ “ठीक कहते हो। आज की दुनिया में अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रिया देखना भी ज़रूरी है।“

“मगर मैं कहता हूं, अन्तर्राष्ट्रीय रुख़ ही देखते होगे या देश के भले की भी कुछ सोचोगे? अन्तर्राष्ट्रीयता की धुन में ही तो तुम लोगों ने देश को गारत में डाल रखा है!”

इस बातचीत में जो लगातार सहमत होने की कोशिश करता रहा, वह मैं हूं। मैं उससे बहस नहीं करता, मतभेद ज़ाहिर नहीं करता, सिर्फ़ सहमत होना चाहता हूं। पर वह सहमत होने नहीं देता। वह कभी किसी को सहमत नहीं होने देता। अगर कोई सहमत होने लगता है तो वह झट से असहमति पर पहुंच जाता है। सहमति से भी वह नाराज़ होता है और असहमति से भी। पर असहमति का विस्फोट बड़ा भयंकर होता है। इसलिए मैं सहमत होते-होते निकल जाता हूं, जैसे आंधी आने पर आदमी ज़मीन पर लेट जाए। उसने मेरी तरफ़ देखा। मैं कुछ नहीं बोला। दूसरी तरफ़ देखने लगा। वह खिसियाया- कैसे बेवकूफ़ से पाला पड़ा है! खीजा- कैसे बेईमान लोग हैं! क्रोधित हुआ- सबको देखूंगा! तना- मैं किसी की परवाह नहीं करता! ढीला हुआ- कैसा दुर्भाग्य है दुःखी हुआ- ऐसों की चलती है, मेरी नहीं चलती मन में फिर तनाव आया। वह अंगुलियों के कटाव गिनता हुआ जल्दी-जल्दी चला गया।

सारी दुनिया ग़लत है। सिर्फ़ मैं सही हूं, यह अहसास बहुत दुःख देता है। इस अहसास में आगे की अपेक्षा होती है कि मुझे सही होने का श्रेय मिले, मान्यता मिले, क़ीमत भी मिले। दुनिया को इतनी फ़ुरसत होती नहीं है कि वह किसी कोने में बैठे उस आदमी को मान्यता देती जाए जो सिर्फ़ अपने को हमेशा सही मानता है। उसकी अवहेलना होती है।

अब सही आदमी क्या करे। वह सबसे नफ़रत करता है। खीजा रहता है। दुःख-भरे तनाव में दिन गुज़ारता है। इसकी दुनिया से इसी तरह की लड़ाई है। पर वह मुझसे ही क्यों उलझता है? हर बार मुझे ही ग़लत क्यों सिद्ध करता है? बात यह है कि पूरी दुनिया से एक साथ लड़ा नहीं जा सकता। दुनिया के हज़ारों मोर्चे हैं और करोड़ों लड़ने वाले हैं। मगर दो देशों की लड़ाई में पूरे देश आपस में नहीं लड़ते। सिपाही से सिपाही लड़ता है। लड़ने के मामले में सिपाही देश का प्रतिनिधि होता है। उन कुछ लोगों को, जिनसे उसकी अक्सर भेंट होती है, उसने दुनिया का प्रतिनिधि मान लिया है। इनमें भी सबसे ज़्यादा मुलाक़ात मुझसे होती है, इसलिए इन कुछ का प्रतिनिधि मैं हुआ। इस तरह दुनिया का प्रतिनिधि मैं बन गया। मुझे ग़लत बताता है तो दुनिया ग़लत होती है। मुझे गाली देता है तो दुनिया को गाली लगती है। मुझ पर नाराज़ होता है तो दुनिया पर नाराज़गी ज़ाहिर होती है। मैं दबता हूं तो दुनिया को दबा देने का सुख उसे मिलता है। **सारी दुनिया की तरफ़ से इस मोर्चे पर मैं खड़ा हूं और पिट रहा हूं। वह मुझसे नफ़रत करता है। मगर मुझे ढूंढता है। कुछ दिन नहीं मिलूं, तो वह परेशान होता है। जिससे नफ़रत है, उससे मिलने की इतनी ललक प्रेम-सम्बन्ध में भी नहीं होती।** मुझसे मिलकर मुझे ग़लत बताकर, मुझ पर खीजकर और मुझे दबाकर जो सुख उसे मिलता है, उसके लिए वह मुझे तलाशता है। विश्व-विजय के गौरव और सन्तोष के लिए योद्धा दुनियाभर की खाक़ छानते थे। वह कुल चार-पांच मील सड़कों पर मुझे खोजता है तो दुनिया को जीतने के लिए कोई ज़्यादा नहीं चलता।

अगर सारी दुनिया ग़लत और वह सही है तो मैं ग़लत हूं और वह सही है। मैं पहले उससे असहमत भी हो जाता था। तब वह भयंकर रूप से फूट पड़ता था। उसे ग़लत माने जाने पर ग़ुस्सा आता था। वह लड़ बैठता था। गाली-गलौज पर आ जाता था। मैंने सहमत होने की नीति अपनायी। मैं सहमत होता हूं तो वह सोचता है, यह कैसे हो सकता है कि मैं और दुनिया, दोनों ही सही हों। दुनिया सही हो ही नहीं सकती। वह झट से ठीक उल्टी बात कहकर असहमत हो जाता है। तब वह एकमात्र सही आदमी और दुनिया ग़लत हो जाती है। मैं फिर सहमत हो जाता हूं तो वह फिर उस बात पर आ जाता है जिसे वह खुद काट चुका है। "बहुत भ्रष्टाचार फैला है।"

"हां, बहुत फैला है।" "लोग हल्ला ज़्यादा मचाते हैं। इतना भ्रष्टाचार नहीं है। यहां तो सब सियार हैं। एक ने कहा, भ्रष्टाचार! तो सब कोरस में चिल्लाने लगे भ्रष्टाचार!"

"मुझे भी लगता है, लोग भ्रष्टाचार का हल्ला ज़्यादा उड़ाते हैं।" "मगर बिना कारण लोग हल्ला नहीं मचाएंगे जी? होगा तभी तो हल्ला करते हैं। लोग पागल थोड़े ही हैं।"

“हां, सरकारी कर्मचारी भ्रष्ट तो हैं।“ “सरकारी कर्मचारी को क्यों दोष देते हो? उन्हें तो हम-तुम ही भ्रष्ट करते हैं।“

“हां, जनता खुद घूस देती है तो वे लेते हैं।“ “जनता क्या ज़बरदस्ती उनके गले में नोट ठूंसती है? वे भ्रष्ट न हों तो जनता क्यों दे?“

कोई घटना होती है तो वह उसके बारे में एक दृष्टिकोण बना लेता है और उससे उसका उल्टा दृष्टिकोण पहले ही मन में हमारे ऊपर मढ़ देता है। फिर वह हमसे उस आरोपित दृष्टिकोण के लिए नफ़रत करता है। नफ़रत इतनी इकट्ठी हो जाती है कि वह उस घटना के लिए ज़िम्मेदार भी हमें मान लेता है। चीन ने भारत को तीन दिन का अल्टीमेटम दिया तो उसे लगा, जैसे अल्टीमेटम हमने दिया हो। बस्तर में आदिवासियों पर गोली हमने ही चलायी। रोडेशिया में गोरी तानाशाही कायम हो गयी तो, उसे लगा, जैसे हमने ही इयान स्मिथ की सरकार बनवा दी हो। वियतनाम पर अमेरिकी बमबारी फिर शुरू हो गयी तो उसने मान लिया कि हमने ही बम-वर्षा का हुक्म दिया है। कुछ दिन वह खूब भन्नाता रहा। मिला नहीं। एक दिन वह मिल गया। ऐसे मिला, जैसे युद्ध-अपराधियों से मिल रहा हो। मिलते ही फूट पड़ा- “तुम्हारे अमेरिका ने फिर बम बरसाना शुरू कर दिया है।“ उसने हमें ऐसे देखा, जैसे पुलिस हत्यारे को देखती है।

हमने कहा, “यह बहुत बुरा किया। इससे क्रान्ति की आशा फिर नष्ट हो गयी।“ वह एक क्षण को सहम गया। वह कई दिनों से हमें बमबारी का समर्थक मानकर हमसे नफ़रत कर रहा था। मगर हम तो बमबारी की निन्दा कर रहे थे। अब वह क्या रुख़ अपनाए! उसे संभलने में ज़्यादा देर नहीं लगी। खीजकर बोला, “शान्ति? वॉट डू यू मीन बाइ शान्ति? यह शब्द झूठा है। सब साले शान्ति की बात करते हैं और लड़ाई की तैयारी करते हैं!”

हम चुप। उसे सन्तोष नहीं हुआ। उसने साफ़ रुख़ अपना लिया, “कह दिया, बुरा किया क्या बुरा किया? उत्तर से दक्षिण में फौज आती हैं, चीनी हथियार आते हैं। उसके ठिकानों पर बम गिराये बिना कैसे काम चलेगा?“ “इस दृष्टि से तो बमबारी ठीक मालूम होती है।“

“क्यों ठीक है? नागरिक क्षेत्रों पर बम बरसाना ठीक है, यह कहते शर्म आनी चाहिए!”

“हां, नागरिक क्षेत्र पर अलबत्ता बम नहीं गिराना चाहिए।“

"मैं कहता हूं, कहीं भी क्यों गिराना चाहिए? अमेरिका को क्या हक़ है इधर आने का? यह उसके राज्य का हिस्सा नहीं है।" "ठीक कहते हो। एशिया में अमेरिका को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।"

"मगर बहुत-से बेवकूफ़ इस नारे को बिना समझे लगाते हैं। वे भूल जाते हैं कि इधर चीन बैठा है जो सबको निगल जाएगा।" हम चुप हो गए। वह कुछ भुनभुनाता रहा। फिर झटके से उठा और अंगुलियों के कटाव गिनता हुआ फुर्ती से चला गया।

गोरे और सुडौल इस जवान के कपाल पर तीन रेखाएं खिंची रहती हैं। हमेशा तनाव में रहता है। नौकरी उसकी साधारण है। एक कॉलेज में पढ़ाता है। कॉलेज से नफ़रत करता है। लौटता है तो जैसे पाप करके लौट रहा हो। प्रिंसिपल से, साथियों से, विद्यार्थियों से नफ़रत करता है। बगीचे में खिले फूलों से भी उसे नफ़रत है। मकान मालिक से इसलिए नाराज़ है कि मकान उसका है। नगरपालिका से सड़क के लिए नाराज़ है। नाले से मच्छरों के लिए नाराज़ है। दुनिया से क्यों नाराज़ है, यह ठीक वही जानता होगा। मैं अन्दाज़ ही लगा सकता हूं। शुरू में ही उसने दुनिया से कुछ ज़्यादा ही उम्मीद कर ली होगी। बहुत-से नौजवान मौजूदा हालात के संदर्भ में महत्वाकांक्षा नहीं बनाते। वह अनुपात से ज़्यादा हो जाती है। बहुत-से तो अपने पिता के ज़माने के सन्दर्भ में महत्वाकांक्षा बना लेते हैं- पिता के ज़माने में हर एम.ए. पास प्रोफ़ेसर हो जाता था, अब नहीं होता। मगर उस सन्दर्भ में जो एम.ए. होकर प्रोफ़ेसर बनने का तय कर लेता है, वह अक्सर निराश होता है। महत्वाकांक्षा के कारण वह स्कूल की नौकरी भी नहीं करता, बेकार रहता है। घुटता है। इस आदमी ने भी जवानी के शुरू मे तय कर लिया होगा कि मुझे दुनिया से इतना मिलना चाहिए, यह मेरा हक़ है। इस हिसाब से कहीं वह गड़बड़ कर गया। **उसने योग्यता के हिसाब से महत्वाकांक्षा नहीं बनायी। अपने मूल्य-निर्धारण में वह ज़्यादा ही उदार हो गया। उसने शुरू में ही विशिष्टता से अपने को मण्डित कर लिया। साधारण से विशिष्ट बनने की ज़रूरत उसने नहीं समझी।** उसने मौजूदा ज़माने की स्पर्धा, पक्षपात और चतुरता को भी नज़रअंदाज़ कर दिया। कॉलेज में पढ़ाना चाहता था तब इस घटिया कॉलेज में नौकरी मिली। उसने मान लिया कि दुनिया ने उसकी क़ीमत नहीं दी। उसके साथ अन्याय किया और सिर्फ़ उसी के साथ। वह आसपास आगे बढ़ते हुए तुच्छ लोगों की भीड़ देखता और सबसे नफ़रत करता है। उसका व्यक्तित्व टूटता है, वह उसे जैसे-तैसे समेटकर दुनिया के सामने चुनौती देकर खड़ा होता है। स्थायी असहमति उसका अपने आपको जोड़ने का प्रयत्न है। इससे वह विशिष्ट बने रहने की कोशिश करता है क्योंकि विशिष्ट हुए बिना वह जी नहीं सकता। एक बार ही मैंने उसे समहत होते पाया है। उसने

केन्द्रीय सरकार में किसी बड़ी नौकरी के लिए आवेदन किया था। वह उसे नहीं मिली। मुझे मिला तो मैंने पूछा।

उसने कहा, “नहीं मिली“

मैं डर रहा था कि कहीं इसने इसके लिए भी मुझे ही ज़िम्मेदार न मान लिया हो। पर उसकी आंखों में ऐसा आरोप-भाव नहीं था। मेरी हिम्मत बढ़ी। मैंने कहा, “आजकल पक्षपात बहुत चलता है।“ वह सहमत हो गया। बोला, “ठीक कहते हो। ऊपर के लोग अपनों को अच्छी जगह फिट करते हैं।“

“और योग्य आदमियों की अवहेलना होती है।“ “हां, और नालायक ऊंचे पदों पर बिठाये जाते हैं।“

“तभी तो सब जगह स्तर गिर रहा है।“ “अरे भाई, स्तर तो कुछ रहा ही नहीं।“ “पता नहीं, कब तक यह अन्धेर चलेगा!”

“मैं भी यही सोचता हूं कि आख़िर ऐसा कब तक!”

सहमति के इस दुर्लभ क्षण को मैं बिगड़ने नहीं देना चाहता था। इसलिए इससे पहले कि वह किसी बात पर असहमत हो उठे, मैं चल दिया। वह भी मुड़ा। मगर वह अंगुलियों के कटाव नहीं गिन रहा था।

चूहा और मैं

यह कहानी स्टीन बेक के लघु उपन्यास ‘आफ मेन एंड माउस’ से अलग है।

चाहता तो लेख का शीर्षक ‘मैं और चूहा’ रख सकता था। पर मेरा अहंकार इस चूहे ने नीचे कर दिया है। जो मैं नहीं कर सकता, वह मेरे घर का चूहा कर लेता है। जो इस देश का सामान्य आदमी नहीं कर पाता, वह इस चूहे ने मेरे साथ करके बता दिया।

इस घर में एक मोटा चूहा है। जब छोटे भाई की पत्नी थी, तब घर में खाना बनता था। इस बीच पारिवारिक दुर्घटनाओं- बहनोई की मृत्यु आदि- के कारण हम लोग बाहर रहे।

इस चूहे ने अपना यह अधिकार मान लिया था कि मुझे खाने को इसी घर में मिलेगा। ऐसा अधिकार आदमी भी अभी तक नहीं मान पाया। चूहे ने मान लिया है।

लगभग पैंतालीस दिन घर बन्द रहा। मैं जब अकेला लौटा, घर खोला, तो देखा कि चूहे ने काफी क्राकरी फर्श पर गिराकर फोड़ डाली हैं। वह खाने की तलाश में भड़भड़ाता होगा। क्राकरी और डब्बों में खाना तलाशता होगा। उसे खाना नहीं मिलता होगा, तो वह पड़ोस में कहीं कुछ खा लेता होगा और जिंदा रहता होगा। पर घर उसने नहीं छोड़ा। उसने इसी घर को अपना घर मान लिया था।

जब मैं घर में घुसा, बिजली जलायी तो मैंने देखा कि वह खुशी से चहकता हुआ यहां से वहां दौड़ रहा है। वह शायद समझ गया कि अब इस घर में खाना बनेगा, डब्बे खुलेंगे और उसकी खुराक उसे मिलेगी।

दिन-भर वह आनंद से सारे घर में घूमता रहा। मैं देख रहा था। उसके उल्लास से मुझे अच्छा ही लगा।

पर घर में खाना बनना शुरू नहीं हुआ। मैं अकेला था। बहन के के यहां, जो पास में ही रहती है, दोपहर को भोजन कर लेता। रात को देर से खाता हूं तो बहन डिब्बा भेज देती रही। खाकर मैं डब्बा बंद करके रख देता। चूहाराम निराश हो रहे थे। सोचते होंगे यह कैसा घर है। आदमी आ गया है। रोशनी भी है। पर खाना नहीं बनता। खाना बनता तो कुछ बिखरे दाने या रोटी के टुकड़े उसे मिल जाते।

मुझे एक नया अनुभव हुआ। रात को चूहा बार-बार आता और सिर की तरफ मच्छरदानी पर चढ़कर कुलबुलाता। रात में कई बार मेरी नींद टूटती। मैं उसे भगाता। पर थोड़ी देर बाद वह फिर आ जाता और मेरे सिर के पास हलचल करने लगता।

वह भूखा था। मगर उसे सिर और पांव की समझ कैसे आई। वह मेरे पांवों की तरफ गड़बड़ नहीं करता था। सीधे सिर की तरफ आता और हलचल करने लगता। एक दिन वह मच्छरदानी में घुस गया।

मैं बड़ा परेशान। क्या करूं? इसे मारूं और यह किसी अलमारी के नीचे मर गया, तो सड़ेगा और सारा घर दुर्गंध से भर जाएगा। फिर भारी अलमारी हटाकर इसे निकालना पड़ेगा।

चूहा दिन-भर भड़भड़ाता और रात को मुझे तंग करता। मुझे नींद आती, मगर चूहाराम फिर मेरे सिर के पास भड़भड़ाने लगते।

आखिर एक दिन मुझे समझ में आया कि चूहे को खाना चाहिए। उसने इस घर को अपना घर मान लिया है। वह अपने अधिकारों के प्रति सचेत है। वह रात को मेरे सिरहाने आकर शायद यह कहता है- क्यों बे, तू आ गया है। भरपेट खा रहा है। मगर मैं

भूखा मर रहा हूं। मैं इस घर का सदस्य हूं। मेरा भी हक है। मैं तेरी नींद हराम कर दूंगा। तब मैंने उसकी मांग पूरी करने की तरकीब निकाली।

रात को मैंने भोजन का डब्बा खोला, तो पापड़ के कुछ टुकड़े यहां-वहां डाल दिये। चूहा कहीं से निकला और एक टुकड़ा उठाकर अलमारी के नीचे बैठकर खाने लगा। भोजन पूरा करने के बाद मैंने रोटी के कुछ टुकड़े फर्श पर बिखरा दिये। सुबह देखा कि वह सब खा गया है।

एक दिन बहन ने चावल के पापड़ भेजे। मैंने तीन-चार टुकड़े फर्श पर डाल दिये। चूहा आया सूंघा और लौट गया। उसे चावल के पापड़ पसंद नहीं। मैं चूहे की पसंद से चमत्कृत रह गया। मैंने रोटी के कुछ टुकड़े डाल दिये। वह एक के बाद एक टुकड़ा लेकर जाने लगा।

अब यह रोजमर्रा का काम हो गया। मैं डब्बा खोलता, तो चूहा निकलकर देखने लगता। मैं एक-दो टुकड़े डाल देता। वह उठाकर ले जाता। पर इतने से उसकी भूख शांत नहीं होती थी। मैं भोजन करके रोटी के टुकड़े फर्श पर डाल देता। वह रात को उन्हें खा लेता और सो जाता।

इधर मैं भी चैन की नींद सोता। चूहा मेरे सिर के पास गड़बड़ नहीं करता।

फिर वह कहीं से अपने एक भाई को ले आया। कहा होगा- 'चल रे मेरे साथ उस घर में। मैंने उस रोटी वाले को तंग करके, डराके, खाना निकलवा लिया है। चल, दोनों खायेंगे। उसका बाप हमें खाने को देगा। वरना हम उसकी नींद हराम कर देंगे। हमारा हक है।'

अब दोनों चूहाराम मजे में खा रहे हैं।

मगर मैं सोचता हूं- आदमी क्या चूहे से भी बदतर हो गया है? चूहा तो अपनी रोटी के हक के लिए मेरे सिर पर चढ़ जाता है, मेरी नींद हराम कर देता है।

इस देश का आदमी कब चूहे की तरह आचरण करेगा?

डिवाइन ल्यूनेटिक मिशन

(याने आध्यात्मिक पागलों का मिशन)

भारत के सामने अब एक बड़ा सवाल है – अमेरिका को अब क्या भेजे? कामशास्त्र वे पढ़ चुके, योगी भी देख चुके। सन्त देख चुके। साधु देख चुके। गाँजा और चरस वहाँ के लड़के पी चुके। भारतीय कोबरा देख लिया। गिर का सिंह देख लिया। जनपथ पर 'प्राचीन' मूर्तियाँ

भी खरीद लीं। अध्यात्म का आयात भी अमेरिका काफी कर चुका और बदले में गेहूँ भी दे रहा है। हरे कृष्ण, हरे राम भी बहुत हो गया।

महेश योगी, बाल योगेश्वर, बाल भोगेश्वर आदि के बाद अब क्या हो? मैं देश–भक्त आदमी हूँ। मगर मैं अमेरिकी पीढ़ी को भी जानता हूँ। मैं जानता हूँ, वह 'बोर' समाज का आदमी हैं – याने बड़ा बोर आदमी। शेअर अपने आप डालर दे जाते हैं। घर में टेलीविजन है, दारू की बोतलें हैं। शाम को वह दस–पन्द्रह आदमियों से 'हाउ डु यू डू' कर लेता है। पर इससे बोरियत नहीं मिटती। हनोई पर कितनी भी बम–वर्षा अमेरिका करे, उत्तेजना नहीं होती। कुछ चाहिए उसे। उसे भारत से ही चाहिए।

मुझे चिन्ता जितनी बड़ी अमेरिका की है उतनी ही भारतीय भाइयों की। इन्हें भी कुछ चाहिए।

अब हम भारतीय भाई वहाँ डालर और यहाँ रूपयों के लिए क्या ले जायें? रविशंकर से वे बोर हो चुके। योगी, सन्त वगैरेह भी काफी हो चुके। अब उन्हें कुछ नया चाहिए – बोरियत खत्म करने और उत्तेजना के लिए। डालर देने को वे तैयार हैं।

मेरा विनम्र सुझाव है कि इस बार हम भारत से 'डिवाइन ल्यूनेटिक मिशन' ले जायें। ऐसा मिशन आज तक नहीं गया। यह नायाब चीज होगी – भारत से ' डिवाइन ल्यूनेटिक मिशन' याने आध्यात्मिक पागलों का मिशन।

मैं जानता हूँ। आम अमेरिकी कहेगा – वी हेव सीन वन। हिज नेम इज कृष्ण मेनन। (हमने एक पागल देखा है। उसका नाम कृष्ण मेनन है।) तब हमारे एजेण्ट कहेंगे – वह ' डिवाइन' (आध्यात्मिक) नहीं था। और पागल भी नहीं था। इस वक्त सच्चे आध्यात्मिक पागल भारत से आ रहे हैं।

मैं जानता हूँ, आध्यात्मिक मिशनें 'स्मगलिंग' करती रहती हैं। पर भारत सरकार और आम भारतीयों को यह नहीं मालूम कि लोगों को 'स्वर्ग' में भी स्मगल किया जाता है।

यह अध्यात्म के डिपार्टमेण्ट से होता है। जिस महान देश भारत में गुजरात के एक गाँव में एक आदमी ने पवित्र जल बाँटकर गाँव उजाड़ दिया, वह क्या अमेरिकी को स्वर्ग में 'स्मगल' नहीं कर सकता?

तस्करी सामान की भी होती है – और आध्यात्मिक तस्करी भी होती है। कोई आदमी दाढ़ी

बढ़ाकर एक चेले को लेकर अमेरिका जाये और कहे, "मेरी उम्र एक हजार साल है। मैं हजार सालों से हिमालय में तपस्या कर रहा था। ईश्वर से मेरी तीन बार बातचीत हो चुकी है।" विश्वासी पर साथ ही शंकालु अमेरिकी चेले से पूछेगा – क्या तुम्हारे गुरू सच बोलते हैं? क्या इनकी उम्र सचमुच हजार साल है? तब चेला कहेगा, "मैं निश्चित नहीं कह सकता, क्योंकि मैं तो इनके साथ सिर्फ पाँच सौ सालों से हूँ।"

याने चेले पाँच सौ साल के वैसे ही हो गये और अपनी अलग कम्पनी खोल सकते हैं। तो मैं भी सोचता हूँ कि सब भारतीय माल तो अमेरिका जा चुका – कामशास्त्र, अध्यात्म, योगी, साधु वगैरह।

अब एक ही चीज हम अमेरिका भेज सकते हैं – वह है भारतीय आध्यात्मिक पागल – इण्डियन डिवाइन ल्यूनेटिक। इसलिए मेरा सुझाव है कि 'इण्डियन डिवाइन ल्यूनेटिक मिशन' की स्थापना जल्दी ही होनी चाहिए। यों मेरे से बड़े–बड़े लोग इस देश में हैं। पर मैं भी भारत की सेवा के लिए और बड़े अमेरिकी भाई की बोरियत कम करने के लिए कुछ सेवा करना चाहता हूँ। यों मैं जानता हूँ कि हजारों सालों से 'हरे राम हरे कृष्ण' का जप करने के बाद भी शक्कर सहकारी दूकान से न मिलकर ब्लैक से मिलती है – तो कुछ दिन इन अमरीकियों को राम–कृष्ण का भजन करने से क्या मिल जायेगा? फिर भी सम्पन्न और पतनशील समाज के आदमी के अपने शान्ति और राहत के तरीके होते हैं – और अगर वे भारत से मिलते हैं, तो भारत का गौरव ही बढ़ता है। यों बरट्रेंड रसेल ने कहा है – अमेरिकी समाज वह समाज है जो बर्बरता से एकदम पतन पर पहँुच गया है – वह सभ्यता की स्टेज से गुजरा ही नहीं। एक स्टेप गोल कर गया। मुझे रसेल से भी क्या मतलब? मैं तो नया अन्तर्राष्ट्रीय धन्धा चालू करना चाहता हूँ – 'डिवाइन ल्यूनेटिक मिशन'। दुनिया के पगले शुद्ध पगले होते हैं – भारत के पगले आध्यात्मिक होते हैं।

मैं 'डिवाइन ल्यूनेटिक मिशन' बनाना चाहता हूँ। इसके सदस्य वही लोग हो सकते हैं, जो पागलखाने में न रहे हों। हमें पागलखाने के बाहर के पागल चाहिए याने वे जो सही पागल का अभिनय कर सकें। योगी का अभिनय करना आसान है। ईश्वर का अभिनय करना भी आसान है। मगर पागल का अभिनय करना बड़ा ही कठिन है। मैं योग्य लोगों की तलाश में हूँ। दो–एक प्रोफेसर मित्र मेरी नजर में हैं जिनसे मैं मिशन में शामिल होने की अपील कर रहा हूँ।

मिशन बनेगा और जरूर बनेगा। अमेरिका में हमारी एजेन्सी प्रचार करेगी – सी रीयल इण्डियन डिवाइन ल्यूनेटिक्स (सच्चे भारतीय आध्यात्मिक पागलों को देखो।) हम लोगों

के न्यूयार्क हवााई अड्डे पर उतरने की खबर अखबारों में छपेगी। टेलीविजन तैयार रहेगा।

मिसेज़ राबर्ट, मिसेज सिम्पसन से पूछेगी, "तुमने क्या सच्चा आध्यात्मिक भारतीय पागल देखा है?"

मिसेज सिम्पसन कहेगी, "नो, इज देअर वन इन दिस कंट्री, 'अंडर गाड'?"

मिसेज राबर्ट कहेगी, "हाँ, कल ही भारतीय आध्यात्मिक पागलों का एक मिशन न्यूयार्क आ रहा है। चलो हम लोग देखेंगे : इट विल बी ए रीअल स्पिरिचुअल एक्सपीरियंस। (वह एक विरल आध्यात्मिक अनुभव होगा।)"

न्यूयार्क हवाई अड्डे पर हमारे भारतीय पागल आध्यात्मिक मिशन के दर्शन के लिए हजारों स्त्री – पुरूष होंगे – उन्हें जीवन की रोज ही बोरियत से राहत मिलेगी। हमारा स्वागत होगा। मालाएँ पहनायी जायेंगी। हमारे ठहराने का बढ़िया इन्तजाम होगा।

और तब हम लोग पागल अध्यात्म का प्रोग्राम देंगे। हर गैरपागल पहले से शिक्षित होगा कि वह सच्चे पागल की तरह कैसे नाटक करे। प्रवेश–फीस 50 डालर होगी और हजारों अमेरिकी हजारों डालर खर्च करके 'इंडियन डिवाइन ल्यूनेटिक्स' के दर्शन करने आयेंगे।

हमारा धन्धा खूब चलेगा। मैं मिशन का अध्यक्ष होने के नाते भाषण दूँगा, "वी आर रीअल इण्डियन डिवाइन ल्यूनेटिक्स। अवर ऋषीज एण्ड मुनीज थाउसेण्ड ईअर्स एगो सेड दैट दि वे टु रीअल इंटरनल पीस एण्ड साल्वेजन लाइज थ्रू ल्यूनेसी।" (हम लोग भारतीय आध्यात्मिक पागल हैं। हमारे ऋषि–मुनियों ने हज़ारो साल पहले कहा था कि आन्तरिक शान्ति और मुक्ति पागलपन से आती है।)

इसके बाद मेरे साथी तरह–तरह के पागलपन के करतब करेंगे और डालर बरसेंगे।

जिन लोगों को इस मिशन में शामिल होना है, वे मुझसे सम्पर्क करें। शर्त यह है कि वे वास्तविक पागल नहीं होने चाहिए। वास्तविक पागलों को इस मिशन में शामिल नहीं किया जायेगा – जैसे सच्चे साधुओं को साधुओं की जमात में शामिल नहीं किया जाता।

अमेरिका से लौटने पर, दिल्ली में रामलीला ग्राउण्ड या लाल किले के मैदान में हमारा शानदार स्वागत होगा। मैं कोशिश करूँगा कि प्रधानमन्त्री इसका उद्घाटन करें।

वे समय न निकाल सकीं तो कई राजनैतिक वनवास में तपस्या करते नेता हमें मिल

जायेंगे।

दिल्ली के 'स्मगलर' हमारा पूरा साथ देंगे।

कस्टम और एनफोर्स महकमे से भी हमारी बातचीत चल रही है। आशा है वे भी अध्यात्म में सहयोग देंगे।

स्वागत समारोह में कहा जायेगा, "यह भारतीय अध्यात्म की एक और विजय है, जब हमारे आध्यात्मिक पगले विश्व को शान्ति और मोक्ष का सन्देश देकर आ रहे हैं। आशा है आध्यात्मिक पागलपन की यह परम्परा देश में हमेशा विकसित होती रहेगी।"

'डिवाइन ल्यूनेटिक मिशन' को जरूर अमेरिका जाना चाहिए। जब हमारे और उनके राजनैतिक सम्बन्ध सुधर रहे हैं तो पागलों का मिशन जाना बहुत जरूरी है।

प्रथम स्मगलर

लक्ष्मण मेघनाथ की शक्ति से घायल पड़े थे। हनुमान उनकी रक्षा के लिए हिमाचल प्रदेश से संजीवनी नामक दवा लेकर लौट रहे थे कि अयोध्या के नाके पर पकड़ लिए गए। पकड़ने वाले नाकेदार को हनुमान ने पीटकर लिटा दिया। राजधानी में हल्ला मच गया कि बड़ा बलशाली 'स्मगलर' आया हुआ है। पूरा फोर्स भी उसका मुकाबला नहीं कर पा रही।

आखिर भरत और शत्रुघ्न आए। हनुमान अपने आराध्य रामचंद्र के भाईयों को देखकर दब गए।

शत्रुघ्न ने कहा, "इन स्मगलरों के मारे नाक में दम है, भैया आप तो सन्यास लेकर बैठ गए हैं। मुझे भुगतना पड़ रहा है।"

भरत ने हनुमान से पूछा- कहां से आ रहे हो?

हनुमान- हिमाचल प्रदेश से।

भरत- क्या है तुम्हारे पास? सोने के बिस्कुट, गांजा, अफीम?

हनुमान- दवा है।

शत्रुघ्न ने कहा- अच्छा दवाईयों की स्मगलिंग चल रही है। निकालो कहां है।

हनुमानजी ने संजीवनी निकालकर रख दी और कहा- मुझे आपके बड़े भाई

रामचंद्र ने इस दवा को लेने के लिए भेजा था।

शत्रुघ्न ने भरत की तरफ देखा, बोले- बड़े भैया यह क्या करने लगे हैं। स्मगलिंग में लग गए हैं। पैसे की तंगी थी तो हमसे मंगा लेते। स्मगलिंग के धंधे में क्यों फंसते हैं। इससे बड़ी बदनामी होती है।

भरत ने हनुमान से पूछा- यह दवा कहां ले जा रहे थे? कहां बेचोगे इसे?

हनुमान ने कहा- लंका ले जा रहा था।

भरत ने कहा- अच्छा, वहां उत्तर भारत का स्मगल किया हुआ माल बिकता है। कौन खरीदते हैं? रावण के लोग।

हनुमान ने कहा- यह दवा तो मैं राम के लिए ही ले जा रहा था। बात यह है कि आपके भाई लक्ष्मण घायल पड़े हैं। वे मरणसन्न हैं। इस दवा के बिना वे बच नहीं सकते।

भरत और शत्रुघ्न ने एक-दूसरे की तरफ देखा। तब तक रजिस्टर में स्मगलिंग का मामला दर्ज हो चुका था।

शत्रुघ्न ने कहा- भरत भैया, आप ज्ञानी हैं। इस मामले में नीति क्या कहती है? शासन का क्या कर्तव्य है?

भरत ने कहा- स्मगलिंग तो अनैतिक है। पर स्मगल किए हुए सामान से अपना या अपने भाई-भतीजों का फायदा होता है, तो यह काम नैतिक हो जाता है। जाओ हनुमान, ले जाओ दवा।

मुंशी से कहा- रजिस्टर का पन्ना फाड़ दो।

खेती

सरकार ने घोषणा की कि हम अधिक अन्न पैदा करेंगे और साल भर में आत्मनिर्भर हो जायेंगे.दूसरे दिन कागज के कारखानों को दस लाख एकड़ कागज का आर्डर दे दिया गया.

जब कागज आ गया,तो उसकी फाइलें बना दी गयीं.प्रधानमंत्रीके सचिवालय से फाइल खाद्य-विभाग को भेजी गयी.खाद्य-विभाग ने उस पर लिख दिया कि इस फाइल से कितना अनाज पैदा होना है और उसे अर्थ-विभाग को भेज दिया.

अर्थ-विभाग में फाइल के साथ नोट नत्थी किये गये और उसे कृषि-विभाग को भेज दिया गया.

बिजली-विभाग ने उसमें बिजली लगाई और उसे सिंचाई-विभाग को भेज दिया गया.सिंचाई विभाग में फाइल पर पानी डाला गया.

अब वह फाइल गृह-विभाग को भेज दी गयी.गृह विभाग ने उसे एक सिपाही को सौंपा और पुलिस की निगरानी में वह फाइलराजधानी से लेकर तहसील तक के दफ्तरों में ले जायी गयी.हर दफ्तर में फाइल की आरती करके उसे दूसरे दफ्तर में भेज दिया जाता.

जब फाइल सब दफ्तर घूम चुकी तब उसे पकी जानकर फूडकारपोरेशन के दफ्तर में भेज दिया गया और उस पर लिख दियागया कि इसकी फसल काट ली जाये.इस तरह दस लाख एकड़ कागज की फाइलों की फसल पक कर फूड कार्पोरेशन के के पास पहुंच गयी.

एक दिन एक किसान सरकार से मिला और उसने कहा-'हुजूर,हम किसानों को आप जमीन,पानी और बीज दिला दीजिये औरअपने अफसरों से हमारी रक्षा कर लीजिये,तो हम देश के लिये पूरा अनाज पैदा कर देंगे.'

सरकारी प्रवक्ता ने जवाब दिया-'अन्न की पैदावार के लिये किसान की अब कोई जरूरत नहीं है.हम दस लाख एकड़ कागज पर अन्न पैदा कर रहे हैं.'

कुछ दिनों बाद सरकार ने बयान दिया-'इस साल तो सम्भव नहीं हो सका ,पर आगामी साल हम जरूर खाद्य में आत्मनिर्भर हो जायेंगे.'

और उसी दिन बीस लाख एकड़ कागज का आर्डर और दे दिया गया.

अश्लील पुस्तकें

शहर में ऐसा शोर था कि अश्लील साहित्य का बहुत प्रचार हो रहा है। अखबारों में समाचार और नागरिकों के पत्र छपते कि सड़कों के किनारे खुले आम अश्लील पुस्तकें बिक रही हैं। दस बारह उत्साही समाज सुधारक युवकों ने टोली बनाई और तय किया कि जहाँ भी मिलेगा हम ऐसे साहित्य को छीन लेंगे और उसकी सार्वजनिक होली जलाएँगे।

उन्होंने एक दूकान पर छापा मारकर बीस-पच्चीस अश्लील पुस्तकें हाथों में की। हरेक के पास दो या

तीन किताबें थीं। मुखिया ने कहा-'आज तो देर हो गई। कल शाम को अखबार में सूचना देकर परसों किसी सार्वजनिक स्थान में इन्हें जलाएँगे। प्रचार करने से दूसरे लोगों पर भी असर पड़ेगा। कल शाम को सब मेरे घर पर मिलो। पुस्तकें मैं इकट्ठी अभी घर नहीं ले जा सकता। बीस-पच्चीस हैं। पिताजी और चाचाजी हैं। देख लेंगे तो आफत हो जाएगी। ये दो-तीन किताबें तुम लोग छिपाकर घर ले जाओ। कल शाम को ले आना।'

दूसरे दिन शाम को सब मिले पर कोई किताब नहीं लाया था। मुखिया ने कहा-'किताबें दो तो मैं इस बोरे में छिपाकर रख दूँ। फिर कल जलाने की जगह बोरे ले चलेंगे।'

किताबें कोई नहीं लाया था।
एक ने कहा-'कल नहीं परसों जलाना पढ़ तो लें।'
दूसरे ने कहा-'अभी हम पढ़ रहे हैं। अब तो किताबें जब्त कर ही ली हैं।'

उस दिन जलाने का कार्यक्रम नहीं बन सका। तीसरे दिन फिर किताबें लेकर मिलने का तय हुआ तीसरे दिन भी कोई किताब नहीं लाया।

एक ने कहा-'अरे यार फादर के हाथों किताब पढ़ गई। वे पढ़ रहे हैं।'
दूसरे ने कहा-'भाभी उठाकर ले गई। बोली कि दो-तीन दिनों में पढ़कर वापस कर दूँगी।' चौथे ने कहा-'अरे पड़ोस की चाची मेरी गैरहाजिरी में उठा ले गई। पढ़ लें तो दो-तीन दिन में जला देंगे।'

अश्लील पुस्तकें कभी नहीं जलाई गई। वे अब अधिक व्यवस्थित ढंग से पढ़ी जा रही हैं।

रोटी

प्रजातंत्र के राजा ने जहाँगीर की तरह अपने महल के सामने एक जंजीर लटका रखी थी। घोषणा करवा दी थी कि जिसे फरियाद करना हो, वह जंजीर खींचे, राजा साहब खुद फरियाद सुनेंगे।

एक दिन अत्यंत दुबला, कमजोर आदमी लड़खड़ाता वहाँ आया और उसने निर्बल हाथों से जंजीर खींची। प्रजातंत्र का राजा तुरंत महल की बालकनी पर आया और बोला-'फरियादी, क्या चाहते हो?'

फरियादी बोला-'राजा तेरे राज में हम भूखे मर रहे हैं। हमें अन्न का दाना नहीं मिलता। मुझे रोटी चाहिए। मैंने कई दिनों से अन्न नहीं खाया। मैं रोटी माँगने आया हूँ।'

राजा ने बड़ी सहानुभूति से कहा-'भाई तेरे दुख से मेरा हृदय द्रवित हो गया है। मैं तेरी रोटी की समस्या पर आज ही एक उपसमिति बिठाता हूँ। पर तुझसे मेरी एक प्रार्थना है-उपसमिति की रिपोर्ट प्रकाशित होने से पहले तू मरना मत।'

जाति

कारखाना खुला, कर्मचारियों के लिए बस्ती बन गई। ठाकुरपुरा के ठाकुर साहब और ब्राह्मणपुरा के पंडितजी कारखाने में काम करने लगे और पास-पास के ब्लॉक में रहने लगे।

ठाकुर साहब का लड़का और पंडितजी की लड़की दोनों जवान थे। उनमें पहचान हुई। पहचान इतनी बढ़ी कि वे शादी के लिए तैयार हो गए।

जब प्रस्ताव उठा तो पंडितजी ने कहा-'ऐसा कभी हो सकता है? ब्राह्मण की लड़की ठाकुर से शादी करे। जाति चली जाएगी।'

किसी ने उन्हें समझाया कि लड़का-लड़की बड़े हैं, पढ़े-लिखे हैं समझदार हैं। उन्हें शादी कर लेने दो। अगर उनकी शादी कर लेने दो। अगर उनकी शादी नहीं हुई तो भी वे चोरी-छिपे मिलेंगे और तब जो उनका संबंध होगा, वह तो व्याभिचार कहा जाएगा।

इस पर ठाकुर साहब और पंडितजी ने कहा-'होने दो। व्याभिचार से जाति नहीं जाती, शादी से जाती है।'

मित्रता

दो लेखक थे। आपस में खूब झगड़ते थे। एक दूसरे को उखाड़ने में लगे रहते। मैंने बहुत कोशिश की कि दोनों में मित्रता हो जाए पर व्यर्थ।

मैं तीन-चार महीने के लिए बाहर चला गया। लौटकर आया तो देखा कि दोनों में बड़े दाँत काटी रोटी हो गई है। साथ बैठते हैं साथ ही चाय पीते हैं। घंटों गपशप करते हैं। बड़ा प्रेम हो गया है।

एक आदमी से मैंने पूछा-'क्यों भाई, अब इनमें ऐसी गाढ़ी मित्रता कैसे हो गई इस प्रेम का क्या रहस्य है?'

उत्तर मिला-‘ये दोनों मिलकर अब तीसरे लेखक को उखाड़ने में लगे हैं।’

लड़ाई

चोपड़ा साहब और साहनी साहब के बँगले लगे हुए थे। बीच में एक दीवार थी। दोनों एक-एक कुत्ता पाले थे। कुत्ते भयंकर थे और मोहल्ले के लोग डरते-डरते सड़क के दूसरे किनारे से निकलते थे। यों चोपड़ा साहब और साहनी साहब का स्वभाव और व्यक्तित्व ऐसा था कि उन्हें अलग से कुत्ता रखने की जरूरत नहीं थी। वे काफी थे।

एक दिन पता नहीं चोपड़ा साहब का कुत्ता साहनी साहब के अहाते में घुसा या साहनी साहब का कुत्ता चोपड़ा साहब के अहाते में-पर दोनों कुत्ते सड़क पर लड़ते पाए गए। चोपड़ा साहब और साहनी साहब फौरन सड़क पर आए। पहले तो उन्होंने अपने-अपने कुत्ते संभाले। कुत्ते अपने-अपने मालिक की टाँगों से लिपटने लगे।

चोपड़ा साहब ने कहा-‘दस बार कह दिया कि अपने कुत्ते को संभालकर रखा करो।’
साहनी ने कहा-‘तुम अपने कुत्ते को संभालो न! वही तो हमारे अहाते में घुस आया था। न जाने किस चोर नस्ल का कुत्ता है।
‘चोर नस्ल का कुत्ता है तुम्हारा।’
‘तुम-तुम चोर नस्ल के हो और तुम्हारा कुत्ता भी। जैसा मालिक वैसा कुत्ता।’
‘चोर तुम हो जी। पी.डब्ल्यू.डी. के ठेकेदारों से पैसा खाकर बँगला बनवा लिया है।’
‘तुम चार सौ बीस हो। स्मगलिंग करके ठाठ करते हो।’

दोनों कुत्ते अपने-अपने मालिक की टाँगों से लिपटकर उन्हें प्रोत्साहित कर रहे थे।

‘कह देता हूँ, इधर तुम्हारा कुत्ता आया तो उसे गोली मार दूँगा और तुम्हें भी।’
‘तू गोली मारेगा, कुत्ते की औलाद!’
‘तू सूअर के।’
वहाँ भीड़ लग गई थी।
एक राहगीर ने एक आदमी से पूछा-‘क्योंजी मामला क्या है?’
उस आदमी ने जवाब दिया-‘कुछ नहीं जी कुत्तों की लड़ाई है।’

चौबेजी की कथा

चौबेजी का पुत्र है अशोक। एम.ए. पहले दर्जे में कर लिया है। नौकरी की कोशिश में है। चौबेजी सोचते हैं नौकरी तो लग ही जाएगी। इसकी शादी कर देना चाहिए। मिश्रजी की लड़की है शीला। वह भी एम.ए. पहले दर्जे में कर चुकी है। उसे भी दो साल बैठे हो गए। मिश्र-मिश्राइन उसकी शादी जल्दी कर देना चाहते हैं।

चौबे जी से बातचीत चली। लेन-देन तय होने लगा। कान्यकुब्जों में एम.ए. पास मगर फिलहाल बेकार, वर का क्या रेट है, यह सयानों से पूछा गया। सयानों ने बताया कि वैसे तो लड़की वाले की सामर्थ्य और श्रद्धा पर निर्भर है। हमने मैट्रिक फेल कान्यकुब्ज कुमार को कानी लड़की के पिता से लाख भी दिलाए हैं। पर सामान्यतः एम.ए. पास बेकार लड़के का रेट पंद्रह-बीस हजार के बीच है।

सयानों ने पंद्रह हजार में तय करा दिया।
सगुन चढ़ाने की तारीख तय हो गई, महीने भर बाद। दोनों पक्ष संतुष्ट थे।
इसी बीच पब्लिक सर्विस कमीशन का सहयोग मिला। अशोक डिप्टी कलेक्टर के लिए चुन लिया गया। आर्डर देखकर चौबे खुश हुए।

फिर एकाकएक चौबे जी दुखी हो गए। सिर ठोंककर गाली देने लगे। 'साले, नीच, कमीने कमीशन वाले। हरामजादे महीने भर पहले यह आर्डर नहीं भेज सकते थे?'
चौबेजी ने पूछा-'लड़के की अच्छी नौकरी लगी है और तुम ऐसा कह रहे हो?'
चौबेजी ने कहा-'अरे, यही आर्डर महीने भर पहले आता तो डिप्टी कलेक्टर लड़के के तीस-पैंतीस हजार नहीं मिल जाते। यह सरकार भी निकम्मी है। मैं कहता हूँ, इस देश में क्रांति होकर रहेगी।'
चौबन ने कहा-'तुम्हारी भी अकल मारी गई थी। मैंने तो एक-दो महीने ठहरने को कहा था, पर तुमने हुल-हुलाकर सम्बंध तय ही कर डाला।'
चौबे जी ने कहा, 'अब क्या करें? चौबन ने कहा, 'ऐसा करो, मिसिराज की एक अच्छी-सी चिट्ठी लिखो, वे समझदार आदमी हैं।'

चौबेजी ने मिश्रजी को लिखा-
प्रिय मिश्रजी,
अत्र कुशलं तत्रास्तु! आगे आपको प्रसन्नता होगी कि बेटे अशोक का चुनाव डिप्टी कलेक्टर के लिए हो गया है। आज ही आर्डर आया है। विवाह के मंगल अवसर पर यह मंगल भी हुआ। इसमें आपकी सुयोग्य पुत्री के भाग्य का भी योगदान है।
आप स्वयं समझदार हैं। नीति और मर्यादा जानते हैं। धर्म पर ही पृथ्वी टिकी है। मनुष्य का क्या है। जीता मरता रहता है। पैसा हाथ का मैल है। मनुष्य की प्रतिष्ठा बड़ी चीज है। मनुष्य को बड़प्पन

निभाना चाहिए। कर्तव्य निभाना चाहिए। धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए। भगवान कृष्ण ने कहा है-स्वधर्म मरणश्रेयं। आशा है, आप मेरी बात समझ गए होंगे। मेरी प्रार्थना है कि अब आप दस हजार रुपए और देने की कृपा करें। हमें तो चाहिए नहीं। आप अपनी लड़की को ही देंगे।

चिट्ठी मिश्र परिवार ने पढ़ी। विचार किया। मिश्रजी ने चौबेजी को चिट्ठी लिखी-

प्रिय चौबेजी,
आपका पत्र मिला। मैं स्वयं आपको लिखने वाला था। चिरंजीव अशोक की सफलता से हम सब लोग बेहद खुश हैं। आयुष्मान अब डिप्टी कलेक्टर हो गया। अशोक बहुत योग्य और बुद्धिमान युवक है। वह चरित्रवान है। सुंदर है। सुसंस्कृत है। वह निरंतर उन्नति करता जाएगा।
आपको यह जानकर और भी प्रसन्नता होगी कि शीला का निर्णय है कि बेटी शीला का भी आई.ए.एस. में चुनाव हो गया है। कल ही आर्डर आया है।
आपको यह जानकर और भी प्रसन्नता होगी कि शीला का निर्णय है कि मैं किसी जूनियर सरकारी नौकर से शादी नहीं करूँगी। इस संबंध को तोड़ते हुए मुझे बड़ा हर्ष हो रहा है।

देवभक्ति

एक शहर की बात है। शहर में गणेशोत्सव बड़ी धूम से मनाया जाता है। प्रथा कुछ ऐसी चल गयी है कि हर जाति के लोग अपने अलग गणेशजी रखते हैं। इस तरह ब्रह्मणों के अलग गणेश होते हैं, अग्रवालों के अलग, तेलियों के अलग, कुम्हारों के अलग। पच्चीस-तीस तरह के गणेशोत्सव होते हैं, और नौ-दस दिनों तक खूब भजन-कीर्तन, पूजा-स्तुति, आरती, गायन-वादन होते हैं। आखिरी दिन गणेश-विसर्जन के लिए जो जुलूस निकलता है, उसमें सबसे आगे ब्राह्मणों के गणेशजी होते हैं।

इस साल ब्राह्मणों के गणेशजी का रथ उठने में जरा देर हो गयी। इसलिए तेलियों के गणेशजी आगे हो गए।

जब यह बात ब्राह्मणों को मालूम हुई, तो वे बड़े क्रोधित हुए। बोले, "तेलियों के गणेश की 'ऐसी-तैसी'। हमारा गणेश आगे जाएगा।"

दण्ड

एक कलाकार ने कोई बड़ा अपराध किया। वह राजा के सामने उपस्थित किया गया। राजा ने मन्त्री से पूछा- "इसे तीन वर्ष की कैद दे दी जाये?"

मन्त्री ने कहा- "अपराध बहुत जघन्य है। तीन साल बहुत कम हैं।"

"तो दस साल सही।"

"दस साल भी कम सजा है।"

"तो आजीवन कारावास।"

"नहीं, यह भी कम है।"

"तो फांसी दे दी जाए?"

"नहीं, फांसी भी कम सजा है।"

राजा ने खीझकर कहा- "फांसी से बड़ी सजा क्या होगी, तुम्हीं बताओ।"

मन्त्री ने कहा- "इसे कहीं बिठाकर इसके सामने दूसरे कलाकार की प्रशंसा करनी चाहिए।"

उपदेश

'सेवक जी' नारी आंदोलन के बड़े समर्थक थे। स्त्री की सामाजिक स्वतंत्रता के लिए वे कठोर संघर्ष करते थे।

एक सभा में उन्होंने भाषण दिया- "....हमें नारी को स्वतंत्रता देनी होगी; उसके व्यक्तित्व को स्वीकारना होगा। उसे घर में कैद करके हमने सदियों से समाज के आधे भाग को निष्क्रिय कर दिया है। अब समय बदल गया है। नारी को हमें बाहर निकलकर समाज के मंगलकार्यों में हाथ बंटाने देना चाहिए।"

भाषण की सबने प्रशंसा की।

'सेवक जी' घर पहुंचे। थोड़ी देर बाद लड़के ने आकर कहा- "पिताजी अम्मा नारी मंगल समिति के कार्यक्रम में भाग लेने जाना चाहती हैं।"

'सेवक जी' की आंखें चढ़ गयीं। बोले- "कह दे कहीं नहीं जाना है। जहां देखो वहां मुंह उठाये चल दीं। कुछ लाज-शर्म भी है या नहीं।"

लड़का था वाचाल। उसने कहा- "पिताजी अभी तो आपने सभा में कहा था कि स्त्री को बाहर समाज में निकलना चाहिए।"

'सेवक जी' ने समझाया, "तू अभी नादान है। बात सतझता नहीं है। अरे, जब कहा जाये कि स्त्री बाहर निकले, तब अर्थ होता है कि दूसरों की स्त्रियां निकलें, अपनी नहीं।"

आवारा भीड़ के खतरे

हमारे देश में युवाओं की आबादी सबसे ज्यादा है। युवा ऊर्जा के प्रतीक होते हैं। इस ऊर्जा के सार्थक उपयोग से देश का बहुमुखी विकास हो सकता है। वहीं उनका गलत इस्तेमाल किये जाने की संभावना भी बनी रहती है। नये उमर के लोगों के लिये सही-गलत की पहचान के खतरे हमेशा रहते हैं।

प्रख्यात शायर **वसीम बरेलवी** इस समस्या के बारे में कहते हैं:-

नयी उम्रों की खुदमुख्तारियों को कौन समझाये,
कहां से बच के चलना है कहां जाना जरूरी है।

हमारे पसंदीदा लेखक हरिशंकर परसाई का लेख '**आवारा भीड़ के खतरे**' इसी बात पर विचार करता है। यह लेख मैं अपने दोस्तों के लिये पेश कर रहा हूँ:-

एक अंतरंग गोष्ठी सी हो रही थी युवा असंतोष पर। इलाहाबाद के लक्ष्मीकांत वर्मा ने बताया - पिछली दीपावली पर एक साड़ी की दुकान पर काँच के केस में सुंदर माडल खड़ी थी। एक युवक ने एकाएक पत्थर उठाकर उस पर दे मारा। काँच टूट गया।आसपास के लोगों ने पूछा कि उसने ऐसा क्यों किया? उसने तमतमाए चेहरे से जवाब दिया-हरामजादी बहुत खूबसूरत है।

हम ४-५ लेखक चर्चा करते रहे कि लड़के के इस कृत्य का क्या कारण है? क्या अर्थ है? यह कैसी मानसिकता है? यह मानसिकता क्यों बनी? बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में ये सवाल दुनिया में भर में युवाओं के बारे में उठ रहे हैं-पश्चिम के सम्पन्न देशों में भी और तीसरी दुनिया के गरीब देशों में भी। अमेरिका से आवारा हिप्पी और'हरे राम हरे कृष्ण' गाते अपनी व्यवस्था से असंतुष्ट युवा भारत आते हैं और भारत का युवा लालायित रहता है कि चाहे चपरासी का काम मिले,अमेरिका में रहूँ । 'स्टेट्स' जाना है यानि चौबीस घंटे गंगा नहाना है। ये अपवाद है। भीड़-की-भीड़ उन युवकों की है,जो हताश,बेकार और क्रुद्ध हैं। संपन्न पश्चिम के युवकों के व्यवहार और भारत के युवकों के व्यवहार में अंतर हैं।

सवाल है-उस युवक ने सुंदर माडल के चेहरे पर पत्थर क्यों फेंका? हरामजादी बहुत खूबसूरत है-यह उस गुस्से का कारण क्यों है? वाह ,कितनी सुंदर है-ऐसा इस तरह के युवक क्यों नहीं कहते?

युवक साधारण कुर्ता पाजाम पहने था। चेहरा बुझा था जिसकी राख में चिंगारी निकली थी पत्थर फेंकते वक्त । शिक्षित था। बेकार था। नौकरी के लिये भटकता रहा था।धंधा कोई नहीं। घर की हालत खराब। घर में अपमान बाहर अवहेलना। वह आत्म ग्लानि से क्षुब्ध।घुटन और गुस्सा। एक नकारात्मक भावना। सबसे शिकायत । ऐसी मानसिकता में सुंदरता देखकर चिढ़ होती है। खिले हुये बुरे फूल बुरे लगते हैं। किसी के अच्छे घर से घृणा होती है।सुंदर कार पर थूकने का मन होता है। मीठा गाना सुनकर तकलीफ होती है। अच्छे कपड़े पहिने खुशहाल साथियों से विरक्ति होती है। जिस चीज से ,खुशी ,सुंदरता, संपन्नता,सफलता,प्रतिष्ठा का बोध होता है,उस पर गुस्सा आता है।

बूढ़े-सयाने लोगों को लड़का जब मिडिल स्कूल में होता है,तभी से शिकायतें होने लगती हैं। वे कहते हैं- ये लड़के कैसे हो गये ? हमारे जमाने में ऐसा नहीं था। हम पिता ,गुरू समाज के आदरणीयों की बात सिर झुका के मानते थे। अब ये लड़के बहस करते हैं। किसी की नहीं मानते ।मैं याद करता हूँ कि जब मैं छात्र था,तब मुझे पिता की बात गलत तो लगती थी,पर मैं प्रतिवाद नहीं करता था। गुरू का भी प्रतिवाद नहीं करता ।समाज के नेताओं का भी नहीं। मगर तब हम किशोरावस्था में थे,जानकारी ही क्या थी? हमारे कस्बे में दस-बारह अखबार आते थे। रेडियो नहीं । स्वतंत्रता संग्राम का जमाना था।सब नेता हमारे हीरो थे-स्थानीय भी और जवाहरलाल नेहरू भी। हम पिता,गुरू,समाज के नेता आदि की कमजोरियाँ नहीं जानते थे। मुझे बाद में समझ में आया कि मेरे आया कि मेरे पिता कोयले के भट्टों पर काम करनेवाले गोंडों का शोषण करते थे।

पर अब मेरा ग्यारह साल का नाती पाँचवीं कक्षा का छात्र है। वह सबेरे अखबार पढ़ता है,टेलीविजन देखता है,रेडियो सुनता है। वह तमाम नेताओं की पोलें जानता है। देवीलाल और ओमप्रकाश चौटाला की आलोचना करता है। घर में कुछ ऐसा करने को कहो तो प्रतिरोध करता है-मेरी बात भी तो सुनो। दिन भर पढ़कर आया हूँ। अब फिर कहते हो कि पढ़ने बैठ जाऊँ। थोड़ी देर नहीं खेलूँगा नहीं तो पढ़ाई भी नहीं होगी। हमारी पुस्तक में लिखा है। वह जानता है कि घर में बड़े कब-कब झूठ बोलते हैं।

ऊँची पढ़ाईवाले विश्वविद्यालय के छात्र सबेरे अखबार पढ़ते हैं, तो तमाम राजनीति और समाज के नेताओं के भ्रष्टाचार , पतन शीलता के किस्से पढ़ते हैं। अखबार देश को चलाने

वालों और समाज के नियामकों के छल,कपट,प्रपंच ,दुराचार की खबरों से भरे रहते हैं। धर्माचार्यों की चरित्र हीनता उजागर होती है। यही नेता अपने हर भाषण हर उपदेश में छात्रों से कहते हैं-युवकों ,तुम्हें देश का निर्माण करना है(क्योंकि हमने नाश कर दिया)तुम्हें चरित्रवान बनना है(क्योंकि हम तो चरित्रहीन हैं) शिक्षा का उद्देश्य पैसा कमाना नहीं है, नैतिक चरित्र का ग्रहण करना है-(हमने शिक्षा और अशिक्षा से पैसा कमाना और अनैतिक होना सीखा) इन नेताओं पर छात्रों-युवक की आस्था कैसे जमें? छात्र अपने प्रोफेसरों के बारे में सब जानते हैं। उनका ऊँचा वेतन लेना और पढ़ाना नहीं। उनकी गुटबंदी ,एक दूसरे की टांग खींचना,नीच कृत्य,द्वेषवश छात्रों को फेल करना,पक्षपात ,छात्रों का गुटबंदी में उपयोग। छात्रों से कुछ भी नहीं छिपा रहता अब। वे घरेलू मामले भी जानते हैं ।ऐसे गुरुओं पर छात्र कैसे आस्था जमायें।ये गुरू कहते हैं-छात्रों को क्रांति करना है। वे क्रांति करने लगे तो सबसे पहले अपने गुरुओं को साफ करेंगे। अधिकतर छात्र अपने गुरुओं से नफरत करते हैं।

बड़े लड़के अपने पिता को भी जानते हैं। वे देखते हैं कि पिता का वेतन तो तीन हजार है ,पर घर का ठाठ-बाट आठ हजार रुपयों का है। मेरा बाप घूस खाता है। मुझे ईमानदारी के उपदेश देता है। हमारे समय के लड़के-लड़कियों के लिये सूचना और जानकारी के इतने माध्यम खुले हैं, कि वे सब क्षेत्रों में अपने बड़ों के बारे में सब कुछ जानते हैं। इसलिये युवाओं से ही नहीं बच्चों से भी अंधआज्ञाकारिता की आशा नहीं की जा सकती।हमारे यहां ज्ञानी ने बहुत पहले कहा था-

प्राप्तेषु षोडसे वर्षे पुत्र मित्र समाचरेत।

उनसे बात की जा सकती है,उन्हें समझाया जा सकता है। कल परसों मेरा बारह साल का नाती बाहर खेल रहा था। उसकी परीक्षा हो चुकी है और लंबी छुट्टी है। उससे घर आने के लिये उसके चाचा ने दो तीन बार कहा। डाँटा। वह आ गया और रोते हुये चिल्लाया - हम क्या करें? ऐसी तैसी सरकार की जिसने छुट्टी कर दी। छुट्टी काटना उसकी समस्या है। वह कुछ तो करेगा ही। दबाओगे तो विद्रोह कर देगा। जब बच्चे का यह हाल है तो तरुणों की प्रतिक्रियाएँ क्या होंगी।

युवक-युवतियों के सामने आस्था का संकट है। सब बड़े उसके सामने नंगे हैं। आदर्शों ,सिद्धातों,नैतिकताओं की धज्जियाँ उड़ते वे देखते हैं। वे धूर्तता ,अनैतिकता, बेईमानी,नीचता को अपने सामने सफल और सार्थक होते देखते हैं। मूल्यों का संकट भी

उनके सामने हैं।सब तरफ मूल्यहीनता उन्हें दिखती है। बाजार से लेकर धर्मस्थल तक। वे किस पर आस्था जमाएँ और किसके पदचिन्हों पर चले? किन मूल्यों को माने?

यूरोप में दूसरे महायुद्ध के दौरान जो पीढ़ी पैदा हुई उसे 'लास्ट जनरेशन'(खोई हुई पीढ़ी) का कहा जाता है। युद्ध के दौरान अभाव ,भुखमरी,शिक्षा ,चिकित्सा की ठीक व्यवस्था नहीं। युद्ध में सब बड़े लगे हैं, तो बच्चों की परवाह करने वाले नहीं। बच्चों के बाप और बड़े भाई युद्ध मारे गए। घर का, संपत्ति का,रोजगार का नाश हुआ। जीवन मूल्यों का नाश हुआ। ऐसे में बिना उचित शिक्षा, संस्कार,भोजन कपड़े के विनाश और मूल्यहीनता के बीच जो पीढ़ी बढ़कर जवान हुई ,तो खोई हुई पीढ़ी । इसके पास निराशा ,अंधकार,असुरक्षा,अभाव,मूल्यहीनता के सिवा कुछ नहीं था। विश्वास टूट गये थे। यह पीढ़ी निराश , विध्वंसवादी,अराजक,उपद्रवी,नकारवादी हुई। अंग्रेज लेखक जार्ज ओसबर्न ने इस क्रुद्ध पीढ़ी पर नाटक लिखा था तो बहुत पढ़ा गया और उस पर फिल्म भी बनी। नाटक का नाम है-'लुक बैक इन एंगर'। मगर यह सिलसिला यूरोप के फिर से व्यवस्थित और सम्पन्न हो जाने पर भी चलता रहा। कुछ युवक समाज के 'ड्राप आउट' हुए। 'बीट जनरेशन' पैदा हुई। औद्योगीकरण के बाद यूरोप में काफी प्रतिशत बेकारी है। ब्रिटेन में अठारह प्रतिशत बेकारी है। अमेरिका ने युद्ध नहीं भोगा। मगर व्यवस्था से असंतोष वहाँ भी पैदा हुआ। अमेरिका में भी लगभग बीस प्रतिशत बेकारी है। वहाँ एक ओर बेकारी से पीड़ित युवक हैं ,तो दूसरी ओर अतिशय सम्पन्नता से पीड़ित युवक भी। जैसे यूरोप में वैसे ही अमेरिकी युवकों ,युवतियों का असंतोष,विद्रोह, नशेबाजी,यौन स्वच्छंदता और विध्वंसवादिता में प्रकट हुआ। जहाँ तक नशीली वस्तुओं के सेवन का सवाल है,यह पश्चिम में तो है ही,भारत में भी खूब है। दिल्लीविश्वविद्यालय के पर्यवेक्षण के अनुसार दो साल पहले(१९८९ में) सत्तावन फीसदी छात्र और पैंतीस फीसदी छात्राएँ नशे के आदी पाए गए। दिल्ली तो महानगर है। छोटे शहरों में ,कस्बों में नशे आ गये हैं। किसी-किसी पान की दुकान में नशा हर कहीं मिल जाता है। 'स्मैक' और'पाट' टाफी की तरह उपलब्ध हैं।

छात्रों-युवकों को क्रांति की,सामाजिक परिवर्तन की शक्ति मानते हैं। सही मानते हैं। अगर छात्रों युवकों में विचार हो,दिशा हो,संगठन हो और सकारात्मक उत्साह हो। वे अपने से ऊपर की पीढ़ी की बुराइयों को समझें तो उन्हीं बुराइयों के उत्तराधिकारी न बनें,उनमें अपनी ओर से दूसरी बुराइयां मिलाकर पतन की परंपरा को गे नहीं बढ़ाएँ। सिर्फ आक्रोश तो आत्मक्षय करता है।

एक हर्बर्ट मार्क्यूस चिंतक हो गये हैं,जो सदी के छठे दशक में बहुत लोकप्रिय हो गये थे। वे 'स्टूडेंट पावर' में बहुत विश्वास करते थे। मानते थे कि छात्र क्रांति कर सकते हैं। वैसे सही बात यह है कि अकेले छात्र क्रांति नहीं कर सकते। उन्हें समाज के दूसरे वर्गों को शिक्षित करके चेतनाशील बनाकर संघर्ष में साथ लेना होगा। उन्हें समाज के दूसरे वर्गों को चेतनाशील बनाकर संघर्ष में साथ लेना होगा।लक्ष्य निर्धारित करना होगा। आखिर क्या बदलना है यह तो तय हो।अमेरिका में हर्बर्ट मार्क्यूस से प्रेरणा पाकर छात्रों ने नाटक ही किये। हो ची मिन्ह और चे गुएवारा के बड़े-बड़े चित्र लेकर जुलूस निकालना और भद्दी,भौड़ी,अश्लील हरकतें करना। अमेरिकी विश्वविद्यालयों की पत्रिकाओं में बेहद फूहड़ अश्लील चित्र और लेख कहानी। फ्रांस के छात्र अधिक गंभीर शिक्षित थे। राष्ट्रपति द गाल के समय छात्रों ने सोरोबोन विश्वविद्यालय में आंदोलन किया। लेखक ज्यां पाल सात्र ने उनका समर्थन किया। उनका नेता कोहने बेंडी प्रबुद्ध और गंभीर युवक था। उनके लिये राजनीतिक क्रांति करना तो संभव नहीं था। फ्रांस के श्रमिक संगठनों ने उनका साथ नहीं दिया। पर उनकी मांगें ठोस थीं जैसे शिक्षा पद्धति में आमूल परिवर्तन। अपने यहाँ जैसी नकल करने की छूट की क्रांतिकारी मांग उनकी नहीं थी।पाकिस्तान में भी एक छात्र नेता तारिक अली ने क्रांति की धूम मचाई। फिर वह लंदन चला गया।

युवकों का यह तर्क सही नहीं है कि जब सब पतित हैं ,तो हम क्यों नहीं हों। सब दलदल में फँसे हैं,तो जो लोग नये हैं,उन्हें उन लोगों को वहाँ से निकालना चाहिये। यह नहीं कि वे भी उसी दलदल में फँस जाएँ। दुनिया में जो क्रांतियाँ हुई हैं, सामाजिक परिवर्तन हुये हैं,उनमें युवकों की बड़ी भूमिका रही है। मगर जो पीढ़ी ऊपर की पीढ़ी की पतनशीलता अपना ले क्योंकि वह सुविधा की है और उसमें सुख है वह पीढ़ी कोई परिवर्तन नहीं कर सकती। ऐसे युवक हैं,जो क्रांतिकारिता का नाटक बहुत करते हैं,पर दहेज भरपूर लेते हैं।कारण बताते हैं-मैं तो दहेज को ठोकर मारता हूँ ।पर पिताजी के सामने झुकना पड़ा। यदि युवकों के पास दिशा हो,विचारधारा हो,संकल्पशीलता हो,संगठित संघर्ष हो तो वे परिवर्तन ला सकते हैं।

पर मैं देख रहा हूँ एक नई पीढ़ी अपने से ऊपर की पीढ़ी से अधिक जड़ और दकियानूस हो गई है। यह शायद हताशा से उत्पन्न भाग्यवाद के कारण हुआ है। अपने पिता से अधिक तत्ववादी ,बुनियाद परस्त(फंडामेंटलिस्ट) लड़का है।

दिशाहीन,बेकार,हताश,नकारवादी,विध्वंसवादी बेकार युवकों की यह भीड़ खतरनाक होती है।इसका उपयोग खतरनाक विचारधारा वाले व्यक्ति और समूह कर सकते हैं। इस भीड़ का उपयोग नेपोलियन,हिटलर और मुसोलिनी ने किया। यह भीड़ धार्मिक उन्मादियों के पीछे

चलने लगती है। यह भीड़ किसी भी ऐसे संगठन के साथ हो सकती है जो उन्माद और तनाव पैदा कर दे।फिर इस भीड़ से विध्वंसक काम कराए जा सकते हैं। यह भीड़ फासिस्टों का हथियार बन सकती है। हमारे देश में यह भीड़ बढ़ रही है। इसका उपयोग भी हो रहा है। आगे इस भीड़ का उपयोग सारे राष्ट्रीय और मानव मूल्योंके विनाश के लिये ,लोकतंत्र के नाश के लिये करवाया जा सकता है।

-हरिशंकर परसाई
जून १९९१

हम,वे और भीड़

हरिशंकर परसाई का लेख- **हम,वे और भीड़** किसी साल की शुरुआत में लिखा गया होगा। लेकिन लेख पढ़ने के बाद लगता है कि यह आज भी सार्थक है।

हम,वे और भीड़

जनवरी के नोट्स

एक कैलेण्डर और बेकार हो गया। पन्ना-पन्ना मैला हो गया और हर तस्वीर का रंग उड़ गया। हर साल ऐसा होता है। जनवरी में दीवार पर चमकीली तसवीरों का एक कैलेण्डर टंग जाता है और दिसम्बर तक तस्वीर की चमक उड़ जाती है। हर तस्वीर बारह महीनों में बदरंग हो जाती है।

पुराने कैलेण्डर की तस्वीर बच्चे काट लेते हैं और उसे कहीं चिपका देते हैं। हम सोचते हैं ,बच्चों का मन बहलता है, पर यह उनके साथ कितना बड़ा धोखा है। साल-दर-साल हम उनसे कहते हैं ,लो बेटों ,जो साल हमने बिगाड़ दिया,उसे लो। उसकी तस्वीर से मन बहलाओ। बीते हुये की बदरंग मुरझाई तस्वीरें हैं ये। आगत की कोई चमकीली तसवीर हम तुम्हें नहीं दे सकते। हम उसमें खुद धोखा खा चुके हैं और खाते रहेंगे। देने वाले हमें भी तो हर साल के शुरू में रंगीन तसवीर देते हैं कि लो अभागों ,रोओ मत। आगामी साल की यह रंगीन तसवीर है। मगर वह कच्चे रंग की होती है। साल बीतते वह भद्दी हो जाती

है। धोखा, जो हमें विरासत में मिला, हम तुम्हें देते हैं। किसी दिन तुम इन बदरंग तसवीरों को हमारे सामने ही फाड़कर फेंक दोगे और हमारे मुँह पर थूकोगे।

नया साल आ गया। पहले मैं १५ अगस्त से नया साल गिनता था। अब वैसा करते डर लगता है। मन में दर्द उठता है कि हाय , इतने साल हो गये फिर भी! जवाब मिलता है कोई जादू थोड़े ही है। पर तरह-तरह के जादू तो हो रहे हैं। यही क्यों नही होता? अफसर के इतने बड़े मकान बन जाते हैं कि वह राष्ट्रपति को किराये पर देने का हौसला रखता है। किस जादू से गोदाम में रखे गेहूँ का हर दाना सोने का हो गया? इसे बो दिया जायेगा ,तो फिर सोने की फसल कट जायेगी।

जनवरी से साल बदलने में दर्द न उठता , न हाय होती और न 'फिर भी' का सवाल उठता। आखिरी हफ्ते में कुछ यादें जरूर होती हैं। २३ जनवरी याद दिलाती है कि सुभाष बाबू ने कहा था- 'तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूँगा।' खून तो हमने दे दिया ,मगर आजादी किन्हें दे दी गयी? फिर भी २४ या २५ तारीख को लाल किले पर सर्वभाषा कवि सम्मेलन होता है जिसमें बड़े-बड़े कवि मेहनत करके घटिया कविता लिखकर लाते हैं और छोटे कवि मेहनत से और घटिया अनुवाद करते हैं। हिन्दी और उर्दू के कवि खास तौर से उचक्कापन और ओवरएक्टिंग करते हैं। यों इन भाषाओं की सारी समकालीन कविता घटिया हीरो की ओवरएक्टिंग है। फिर २६ जनवरी को गणतन्त्र दिवस होता है और हम संविधान की प्रति निकालकर गणतन्त्र के निर्देशक सिद्धान्त और बुनियादी अधिकारो का पाठ करते हैं। इसी वक्त गुरू गोलवरकर की वाणी सुनाई देती है कि यह राष्ट्र तो सिर्फ हिन्दुओं का है-मुसलमान ,पारसी,ईसाई वगैरह विदेशी हैं और खासकर मुसलमान तो देशद्रोही हैं। मगर जो सुरक्षा सम्बन्धी गुप्त बातें पाकिस्तान को देते पकड़े गये,वे शुद्ध ब्राह्मण हैं। यह भी जादू है।

फिर ३० जनवरी...।

हमारे बापों से कहा जाता था कि आजादी की घास गुलामी के घी से अच्छी होती है। हम तब बच्चे थे,मगर हमने भी इसे सुना ,समझा और स्वीकारा।

आजाद हो गये,तो हमने कहा-अच्छा अब हम गौरव के साथ घास भी खा लेंगे।

नारा लगाने वालों से यह पूछना भूल गये कि कब तक खायेंगे।

मगर हमने देखा कि कुछ लोग अपनी काली-काली भैंसे आजादी की घास पर छोड़ दी और घास उनके पेट में जाने लगी। तब भैंस वालों ने उन्हें दुह लिया और दूध का घी बनाकर हमारे सामने पीने लगे।

धोखा ही हुआ न! हमें और हमारे बापों को बताया ही नहीं गया था कि आजादी की घास तो होगी ,पर कुछ के पास कभी-कभी भैंसे भी होंगी।

अब हम उनसे कहते हैं-यारों तुम भी आजादी की घास खाओ न!

वे जवाब देते हैं-खा तो रहे हैं। तुम घास सीधे खा लेते हो और हम भैंसों की मारफत खाते हैं। वह अगर घी बन जाती है ,तो हम क्या करें?

और हम अपने बाप को कोसते हैं कि तुमने तभी इस बारे में साफ बातें क्यों नहीं कर लीं।वह काली भैंसों वाली शर्त क्यों मान ली? क्या हक था तुम्हें हमारी तरफ से सौदा करने का?

सोशलिस्ट अर्थशास्त्री से पूछते हैं तो वह अपनी उलझी हुई दाढ़ी पर हाथ फेरकर कहता है-कम्पल्शंस आफ ए बैकवर्ड इकानामी! पिछड़ी अर्थव्यवस्था की बाध्यताएँ हैं ये।

हैं तो। घर से दुकान तक पहुँचते भाव बढ़ जाते हैं।

देश एक कतार में बदल गया है। चलती-फिरती कतार है-कभी चावल की दूकान पर खड़ी होती है,फिर सरककर शक्कर की दूकान पर चली जाती है। आधी जिन्दगी कतार में खड़े-खड़े बीत रही है।

‘शस्य श्यामला’ भूमि के वासी ‘भारत भाग्य विधाता’ से प्रार्थना करते हैं कि इस साल अमेरिका में गेहूँ खूब पैदा हो और जापान में चावल।

हम ‘मदरलैण्ड’ न कहकर ‘फादरलैण्ड’ कहने लगें तो ठीक होगा। रोटी माँ से माँगी जाती है ,बाप से नहीं। ‘फादरलैण्ड ‘ कहने लगेंगे , तो ये माँगें और शिकायतें नहीं होंगी।

मैं फिर भीड़ के चक्कर में पड़ गया।

मेरा एक मित्र सही कहता है- परसाई,तुम पर भीड़ हावी है। तुम हमेशा भीड़ की बात भीड़ के लिये लिखते हो। देखते नहीं , अच्छे लेखकों की चिंता यह है कि भीड़ के दबाव से कैसे बचा जाये।

छोटा आदमी हमेशा भीड़ से कतराता है। एक तो उसे अपने वैशिष्ट्य के लोप हो जाने का डर रहता है,दूसरे कुचल जाने का। जो छोटा है और अपनी विशिष्टता को हमेशा उजागर रखना चाहता है,उसे सचमुच भीड़ में नहीं घुसना चाहिये। लघुता को बहुत लोग इस गौरव से धारण करते हैं,जैसे छोटे होने के लिये उन्हें बहुत बड़ी तपस्या करनी पड़ी है। उन्हें भीड़ में खो जाने का डर बना रहता है।

एक तरकीब है,जिससे छोटा आदमी भी भीड़ में विशिष्ट और सबके ध्यान का केंद्र बन सकता है -उसे बकरे या कुत्ते की बोली बोलने लगना चाहिये। भीड़ का उद्धेश्य जब सस्ता अनाज लेने का हो,वह इसके लिये आगे बढ़ रही हो, उसका ध्येय ,एक मन:स्थिति और एक गति हो -तब यदि छोटा आदमी बकरे की बोली बोल उठे , तो वह एकदम विशिष्ट हो जायेगा और सबका ध्यान खींच लेगा।

लोग मुझसे कहीं होशियार हैं। मेरे बताये बिना भी वे यह तरकीब जानते हैं और भूखों की भीड़ में बकरे की बोली बोल रहे हैं।

बड़ा डर है कि भीड़ हमें यानि स्वतंत्र चिन्तकों और लेखकों को दबोच रही है।

वे नहीं जानते या छिपाते हैं कि भीड़ से अलग करके भी किसी एकान्त में दबोचे जाते हैं। लेखकों की चोरी करने वाले कई गिरोह हैं। वे भीड़ में शिकार को ताड़ते रहते हैं और उसे भीड़ से अलग करके ,अपने साथ किसी अँधेरी कोठरी में ले जाते हैं। वहाँ उसके हाथ-पाँव बाँधकर मुँह में कपड़ा ठूँस देते हैं। तब स्वतंत्र चिंतक सिर्फ 'घों-घों' की आवाज निकाल सकता है। गिरोहवाले उस 'घों-घों' में सौन्दर्यशाष्त्रीय मूल्य ढूँढ़कर बता देते हैं। उसे तत्व ज्ञान सिद्ध कर देते हैं।

जिसकी अनाज की थैली लेकर दूसरा कोई कतार में खड़ा हो ,वह भीड़ से घृणा कर सकता है। जिसका थैला अपने ही हाथ में हो ,वह क्या करे?

भीड़ से बचने का एक तरीका और है। एक मीनार खड़ी करो। उस पर बैठ जाओ। एक लम्बी रस्सी में खाने का डिब्बा बाँधकर नीचे लटकाओ और ऊपर से रोओ। कोई दया

करके डब्बे में दाल -रोटी रख देगा। डिब्बा ऊपर खींचकर रोटी खा लो और ऊपर से भीड़ पर थूको।

लेखक की हालत खस्ता है। वह सोचता है कि मेरा अलग से कुछ हो जाये। सबके साथ होने में विशिष्टता मारी जाती है। दिन-भर पेट भरने के लिये उसके जूते घिसते हैं और शाम को काफी हाउस में बैठकर वह कहता है कि हमें कोई भीड़ से बचाओ।

उधर भीड़ कहती है कि कोई हमें इनसे बचाओ।

राजनीति की बू आती है , इन बातों से । है न!

लेखन को तो मनुष्य से मतलब है,राजनीति वगैरह से क्या?

मगर मनुष्य की नियति तय करने वाली एक राजनीति भी है।

लेखक दम्भ से कहता है,पहली बार हमने जीवन को उसके पूर्ण और यथार्थ रूप में स्वीकारा है।

तूने भाई, किसका जीवन स्वीकारा है? जीवन तो अर्थमंत्री के बदलने से भी प्रभावित हो रहा है और अमरिकी चुनाव से भी।

कल अगर फासिस्ट तानाशाही आ गयी , तो हे स्वतंत्र चिंतक ,हे भीड़ द्वेषी, तेरे स्वतंत्र चिंतन का क्या होगा? फिर तो तेरा गला दबाया जायेगा और तूने अपनी इच्छा से कोई आवाज निकालने की कोशिश की तो गला ही कट जायेगा।

आज तू यह सोंचने में झेंपता है और ऊपर से कहता है- आज हम जीवन से सम्पृक्त हैं।

भीड़ की बात छोड़ें। लेखकों की बात करें।

‘अज्ञेय’ को ‘आँगन से पार द्वार’ पर अकादमी -पुरस्कार मिल गया। पहले क्यों नहीं मिला? उम्र कम थी। आम मत है कि ‘आँगन के पार द्वार’ से पहले के संग्रहों की कवितायें अच्छी हैं।

फिर उन पर क्यों पुरस्कार नहीं मिला? तब उम्र कम थी और अच्छी रचना को पुरस्कृत करने की कोई परम्परा नहीं है।

पं. माखनलाल चतुर्वेदी का सम्मान हुआ और थैली भेंट की गयी। पहले क्यों नहीं हुआ? उम्र उनकी भी कम थी।

जानसन ने लार्ड चैस्टरफील्ड को चिट्ठी में लिखा था कि माई लार्ड , क्या 'पेट्रन' वह होता है जो किनारे पर खड़ा-खड़ा आदमी को डूबते देखता रहे और जब वह किसी तरह बचकर बाहर निकल आये, तो वह उसे गले लगा ले।

पुरस्कार और आर्थिक सहायता रचना करने के लिये मिलते हैं या रचना बंद करने के लिये?

मैं देने वालों के पास जाऊँ और कहूँ- सर,मैं लिखना बन्द कर रहा हूँ-इस उपलक्ष्य में आप मुझे क्या देते हैं?

सर पूछेगा- कब से बन्द कर रहे हो?

-अगली पहली तारीख से।

सर कहेगा- तुम कल ही से बन्द कर दो तो मैं कल ही से तुम्हारी मासिक सहायता बाँध देता हूँ। खबरदार,लिखा तो बन्द कर दूँगा।

मैं कहूँगा-ऐसा है तो मैं आज से ही बन्द कर दूँगा। आज से ही तनखा बाँध दीजिये।

एक वृद्ध गरीब लेखक बेचाराइधर शहर में घूम रहा है। उसे दो 'प्रतिष्ठित' आदमियों से दरिद्रता के सर्टिफिकेट चाहिये। उसने सहायता के लिये दरख्वास्त दी है। उसमें नत्थी करेगा। तब कलेक्टर जाँच करके सिफारिश करेगा कि हाँ,यह लेखक सचमुच दरिद्र है,दीन है। दीन नहीं है, ऐसे दो बेईमान चन्दा खानेवालों ने इसकी दरिद्रता प्रमाणित की है।

क्या मतलब है इन शब्दों का- स्वतंत्रचेता, द्रष्टा,विशिष्ट,आत्मा के प्रति प्रतिबद्द ,आत्मा का अन्वेषी?

जिसने हमें क्रान्ति सिखायी थी औरजो कहता था कि मेरी आत्मा में हिमालय घुस गया है, उसे मैंने अभी देखा।

जिसने ज्वाला धधकाने की बात की थी उसे भी अभी देखा।

जो सन्त कवियों की 'स्पिरिट' को आत्मसात किये है, उसे भी देखा।

कहाँ देखा?

मुख्यमंत्री के आसपास। तीनों में प्रतिस्पर्धा चल रही थी कि कौन किस जेब में घुस जाये। कोट की दो जेबों में दो घुस गये।

तीसरे ने कहा-हाय,अगर मुख्यमंत्री पतलून पहने होते तो , तो मैं उसकी जेब में घुस जाता। तीनों 'एम्प्लायमेण्ट एक्सचेंज' से कार्ड बनवाकर जेब में रखे हैं। किसी को कुछ होना है,किसी को कुछ।

कहानी पर बात करना व्यर्थ है। मैं पिछले दो महीने से व्यूह- रचना के सम्पर्क में नहीं हूँ। उसे जाने बिना मूल्यों की बात नहीं हो सकती। दिल्ली जाकर चार तरह के लेखकों से मिलूँगा। वे चार तरह के कौन? काफी हाउस वाले,टी हाउस वाले, शालीमार वाले और फोन पर हेलो वाले।

साहित्य की सबसे बड़ी समस्या इस समय यह है कि डा. नामवार सिंह ने एक लेख में श्रीकान्त वर्मा को 'कोट' किया है और तारीफ तथा सहमति के साथ किया है। यह चकित करने वाली बात है।

हम सबके लिये आगामी माह का 'असाइनमेंट ' यही है कि हम इस रहस्य का पता लगायें। तब कुछ पढ़ें -लिखें।

-हरिशंकर परसाई

गर्दिश के दिन -हरिशंकर परसाई

[अगस्त का महीना परसाई जी के जन्म का महीना है। परसाई जी का यह लेख पढ़ें- '**गर्दिश के दिन**' । यह लेख परसाई जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर लिखे लेखों के संकलन **आंखन देखी** (*प्रकाशक वाणी प्रकाशन ,नई दिल्ली*)से लिया गया। इसका संपादन प्रसिद्ध लेखक **कमला प्रसाद** ने किया है।]

लिखने बैठ गया हूँ पर नहीं जानता संपादक की मंशा क्या है और पाठक क्या चाहते हैं,क्यों आखिर वे उन गर्दिश के दिनों में झांकना चाहते हैं,जो लेखक के अपने हैं और जिन पर वह शायद परदा डाल चुका है। अपने गर्दिश के दिनों को, जो मेरे नामधारी एक आदमी के थे, मैं किस हैसियत से फिर से जीऊँ?-उस आदमी की हैसियत से या लेखक की हैसियत से ? लेखक की हैसियत से गर्दिश को फिर से जी लेने और अभिव्यक्ति कर देने में मनुष्य और लेखक ,दोनों की मुक्ति है। इसमें मैं कोई 'भोक्ता' और 'सर्जक' की निःसंगता की बात नहीं दुहरा रहा हूँ। पर गर्दिश को फिर याद करने, उसे जीने में दारुण कष्ट है। समय के सींगों को मैंने मोड़ दिया। अब फिर उन सींगों को सीधा करके कहूँ -आ बैल मुझे मार!

गर्दिश कभी थी ,अब नहीं है,आगे नहीं होगी-यह गलत है। गर्दिश का सिलसिला बदस्तूर है,मैं निहायत बेचैन मन का संवेदनशील आदमी हूँ। मुझे चैन कभी मिल ही नहीं सकता,इस लिये गर्दिश नियति है।

हाँ ,यादें बहुत हैं। पाठक को शायद इसमें दिलचस्पी हो कि यह जो हरिशंकर परसाई नाम का आदमी है,जो हँसता है,जिसमें मस्ती है,जो ऐसा तीखा है,कटु है-इसकी अपनी जिंदगी कैसी रही? यह कब गिरा, फिर कब उठा ?कैसे टूटा? यह निहायत कटु,निर्मम और धोबी पछाड़ आदमी है।

संयोग कि बचपन की सबसे तीखी याद 'प्लेग' की है। १९३६ या ३७ होगा। मैं शायद आठवीं का छात्र था। कस्बे में प्लेग पड़ी थी। आबादी घर छोड़ जंगल में टपरे बनाकर रहने चली गयी थी। हम नहीं गये थे। माँ सख्त बीमार थीं। उन्हें लेकर जंगल नहीं जाया जा सकता था। भाँय-भाँय करते पूरे आस-पास में हमारे घर में ही चहल-पहल थी। काली रातें। इनमें हमारे घर जलने वाले कंदील। मुझे इन कंदीलों से डर लगता था। कुत्ते तक बस्ती छोड़ गये थे,रात के सन्नाटे में हमारी आवाजें हमें ही डरावनी लगतीं थीं। रात को मरणासन्न माँ के सामने हम लोग आरती गाते-

ओम जय जगदीश हरे,
भक्त जनों के संकट पल में दूर करें।

गाते-गाते पिताजी सिसकने लगते,माँ बिलखकर हम बच्चों को हृदय से चिपटा लेतीं और हम भी रोने लगते। रोज का यह नियम था। फिर रात को पिताजी,चाचा और दो -एक रिश्तेदार लाठी-बल्लम लेकर घर के चारों तरफ घूम-घूमकर पहरा देते। ऐसे भयानक और

त्रासदायक वातावरण में एक रात तीसरे पहर माँ की मृत्यु हो गयी। कोलाहल और विलाप शुरू हो गया। कुछ कुत्ते भी सिमटकर आ गये और योग देने लगे।

पाँच भाई-बहनों में माँ की मृत्यु का अर्थ मैं ही समझता था-सबसे बड़ा था।

प्लेग की वे रातें मेरे मन में गहरे उतरी हैं। जिस आतंक,अनिश्चय,निराशा और भय के बीच हम जी रहे थे,उसके सही अंकन के लिये बहुत पन्ने चाहिये। यह भी कि पिता के सिवा हम कोई टूटे नहीं थे। वह टूट गये थे। वह इसके बाद भी ५-६ साल जिये,लेकिन लगातार बीमार,हताश,निष्क्रिय और अपने से ही डरते हुये। धंधा ठप्प। जमा-पूँजी खाने लगे। मेरे मैट्रिक पास होने की राह देखी जाने लगी। समझने लगा था कि पिताजी भी अब जाते ही हैं। बीमारी की हालत में उन्होंने एक भाई की शादी कर ही दी थी-बहुत मनहूस उत्सव था वह। मैं बराबर समझ रहा था कि मेरा बोझ कम किया जा रहा है। पर अभी दो छोटी बहनें और एक भाई थे।

मैं तैयार होने लगा । खूब पढ़ने वाला,खूब खेलने वाला और खूब खाने वाला मैं शुरू से था। पढ़ने और खेलने में मैं सब कुछ भूल जाता था। मैट्रिक हुआ,जंगल विभाग में नौकरी मिली। जंगल में सरकारी टपरे में रहता। ईंटे रखकर,उन पर पटिया जमाकर बिस्तर लगाता, नीचे जमीन चूहों ने पोली कर दी थी। रात भर नीचे चूहे धमाचौकड़ी करते रहते और मैं सोता रहता। कभी चूहे ऊपर आ जाते तो नींद टूट जाती पर मैं फिर सो जाता। छह महीने धमाचौकड़ी करते चूहों पर मैं सोया।

बेचारा परसाई?

नहीं,नहीं ,मैं खूब मस्त था। दिन-भर काम। शाम को जंगल में घुमाई। फिर हाथ से बनाकर खाया गया भरपेट भोजन शुद्ध घी और दूध!

पर चूहों ने बड़ा उपकार किया। ऐसी आदत डाली कि आगे की जिन्दगी में भी तरह-तरह के चूहों मेरे नीचे ऊधम करते रहे, साँप तक सर्राते रहे ,मगर मैं पटिये बिछा कर पटिये पर सोता रहा हूँ। चूहों ने ही नहीं मनुष्यनुमा बिच्छुओं और सापों ने भी मुझे बहुत काटा-पर 'जहरमोहरा'मुझे शुरू में ही मिल गया। इसलिये 'बेचारा परसाई' का मौका ही नहीं आने दिया। उसी उम्र से दिखाऊ सहानुभूति से मुझे बेहद नफरत है। अभी भी दिखाऊ सहाननुभूति वाले को चाँटा मार देने की इच्छा होती है। जब्त कर जाता हूँ,वरना कई शुभचिन्तक पिट जाते।

फिर स्कूल मास्टरी। फिर टीचर्स ट्रनिंग और नौकरी की तलाश -उधर पिताजी मृत्यु के नजदीक। भाई पढ़ाई रोककर उनकी सेवा में। बहनें बड़ी बहन के साथ,हम शिक्षण की शिक्षा ले रहे थे।

फिर नौकरी की तलाश। एक विद्या मुझे और आ गयी थी-बिना टिकट सफर करना। जबलपुर से इटारसी,टिमरनी,खंडवा,देवास बार-बार चक्कर लगाने पड़ते। पैसे थे नहीं। मैं बिना टिकट बेखटके गाड़ी में बैठ जाता। तरकीबें बचने की बहुत आ गयीं थीं। पकड़ा जाता तो अच्छी अंग्रेजी में अपनी मुसीबत का बखान करता। अंग्रेजी के माध्यम से मुसीबत बाबुओं को प्रभावित कर देती और वे कहते-**लेट्स हेल्प दि पुअर ब्वाय।**

दूसरी विद्या सीखी उधार माँगने की। मैं बिल्कुल नि:संकोच भाव से किसी से भी उधार मांग लेता। अभी भी इस विद्या में सिद्ध हूँ।

तीसरी चीज सीखी -बेफिक्री। जो होना होगा,होगा,क्या होगा? ठीक ही होगा। मेरी एक बुआ थी। गरीब,जिंदगी गर्दिश -भरी,मगर अपार जीव शक्ति थी उसमें। खाना बनने लगता तो उनकी बहू कहती-बाई , न दाल ही है न तरकारी। बुआ कहती-चल चिंता नहीं। राह-मोहल्ले में निकलती और जहाँ उसे छप्पर पर सब्जी दिख जाती,वहीं अपनी हमउम्र मालकिन से कहती- ए कौशल्या,तेरी तोरई अच्छी आ गयी है। जरा दो मुझे तोड़ के दे। और खुद तोड़ लेती। बहू से कहती-ले बना डाल,जरा पानी जादा डाल देना। मैं यहाँ-वहाँ से मारा हुआ उसके पास जाता तो वह कहती-चल,चिंता नहीं,कुछ खा ले।

उसका यह वाक्य मेरा आदर्श वाक्य बना-कोई चिन्ता नहीं।

गर्दिश,फिर गर्दिश!

होशंगाबाद शिक्षा अधिकारी से नौकरी माँगने गये। निराश हुये। स्टेशन पर इटारसी के लिये गाड़ी पकड़ने के लिये बैठा था,पास में एक रुपया था,जो कहीं गिर गया था। इटारसी तो बिना टिकट चला जाता। पर खाऊँ क्या? दूसरे महायुद्ध का जमाना। गाड़ियाँ बहुत लेट होतीं थीं। पेट खाली। पानी से बार-बार भरता। आखिर बेंच पर लेट गया।चौदह घंटे हो गये । एक किसान परिवार पास आकर बैठ गया। टोकरे में अपने खेत के खरबूजे थे। मैं उस वक्त चोरी भी कर सकता था। किसान खरबूजा काटने लगे। मैंने कहा- तुम्हारे ही खेत के होंगे। बड़े अच्छे हैं। किसान ने कहा- सब नर्मदा मैया की किरपा है भैया! शक्कर की

तरह हैं। लो खाके देखो। उसने दो बड़ी फांके दीं। मैंने कम-से-कम छिलका छोड़कर खा लिया। पानी पिया। तभी गाड़ी आयी और हम खिड़की में घुस गये।

नौकरी मिली जबलपुर से सरकारी स्कूल में। किराये तक के पैसे नहीं। अध्यापक महोदय ने दरी में कपड़े बाँधे और बिना टिकट चढ़ गये गाड़ी में। पास में कलेक्टर का खानसामा बैठा था। बातचीत चलने लगी। आदमी मुझे अच्छा लगा। जबलपुर आने लगा तो मैंने उसे अपनी समस्या बताई। उसने कहा -चिन्ता मत करो। सामान मुझे दो। मैं बाहर राह देखूँगा। तुम कहीं पानी पीने के बहाने सींखचों के पास पहुँच जाना। नल सींखचों के पास ही है। वहाँ सींखचों को उखाड़कर निकलने की जगह बनी हुई है। खिसक लेना। मैंने वैसा ही किया। बाहर खानसामा मेरा सामान लिये खड़ा था। मैंने सामान लिया और चल दिया शहर की तरफ। कोई मिल ही जायेगा,जो कुछ दिन पनाह देगा,अनिश्चय में जी लेना मुझे तभी आ गया था।

पहले दिन जब बाकायदा 'मास्साब' बने तो बहुत अच्छा लगा। पहली तनख्वाह मिली ही थी कि पिताजी की मृत्यु की खबर आ गयी। माँ के बचे जेवर बेचकर पिता का श्राद्ध किया और अध्यापकी के भरोसे बड़ी जिम्मेदारियाँ लेकर जिंदगी के सफर पर निकल पड़े।

उस अवस्था की इन गर्दिशों के जिक्र मैं आखिर क्यों इस विस्तार से कर गया? गर्दिशें बाद में भी आयीं ,अब भी आतीं हैं,आगे भी आयेंगी, पर उस उम्र की गर्दिशों की अपनी अहमियत है। लेखक की मानसिकता और व्यक्तित्व निर्माण से इनका गहरा सम्बन्ध है।

मैंने कहा है- मैं बहुत भावुक,संवेदनशील और बेचैन तबीयत का आदमी हूँ। सामान्य स्वभाव का आदमी ठंडे-ठंडे जिम्मेदारियाँ भी निभा लेता,रोते-गाते दुनिया से तालमेल भी बिठा लेता और एक व्यक्तित्वहीन नौकरीपेशा आदमी की तरह जिंदगी साधारण सन्तोष से गुजार लेता।

मेरे साथ ऐसा नहीं हुआ,जिम्मेदारियाँ,दुखों की वैसी पृष्ठभूमि और अब चारों तरफ से दुनिया के हमले -इस सब सबके बीच सबसे बड़ा सवाल था अपने व्यक्तित्व और चेतना की रक्षा । तब सोचा नहीं था कि लेखक बनूँगा। पर मैं अपने विशिष्ट व्यक्तित्व की रक्षा तब भी करना चाहता था।

जिम्मेदारी को गैर-जुम्मेदारी की तरह निभाओ।

मैंने तय किया-परसाई,डरो मत किसी से। डरे कि मरे। सीने को ऊपर-ऊपर कड़ा कर लो। भीतर तुम जो भी हो। जिम्मेदारी को गैर-जुम्मेदारी की तरह निभाओ। जिम्मेदारी को अगर जिम्मेदारी के साथ निभाओगे तो नष्ट हो जाओगे। और अपने से बाहर निकलकर सब में मिल जाने से व्यक्तित्व और विशिष्टता की हानि नहीं होती। लाभ ही होता है। अपने से बाहर निकलो। देखो, समझो और हँसो।

मैं डरा नहीं । बेईमानी करने में भी नहीं डरा। लोगों से नहीं डरा तो नौकरियाँ गयीं। लाभ गये,पद गये,इनाम गये। गैर-जिम्मदार इतना कि बहन की शादी करने जा रहा हूँ। रेल में जेब कट गयी,मगर अगले स्टेशन पर पूड़ी-साग खाकर मजे में बैठा हूँ कि चिन्ता नहीं। कुछ हो ही जायेगा। मेहनत और परेशानी जरूर पड़ी यों कि बेहद बिजली-पानी के बीच एक पुजारी के साथ बिजली की चमक से रास्ता खोजते हुये रात-भर में अपनी बड़ी बहन के गाँव पहुँचना और कुछ घंटे रहकर फिर वापसी यात्रा। फिर दौड़-धूप! मगर मदद आ गयी और शादी भी हो गयी।

इन्हीं परिस्थितियों के बीच मेरे भीतर लेखक कैसे जन्मा,यह सोचता हूँ। पहले अपने दुःखों के प्रति सम्मोहन था। अपने को दुखी मानकर और मनवाकर आदमी राहत पा लेता है। बहुत लोग अपने लिये बेचारा सुनकर सन्तोष का अनुभव करते हैं। मुझे भी पहले ऐसा लगा। पर मैंने देखा,इतने ज्यादा बेचारों में मैं क्या बेचारा! इतने विकट संघर्षों में मेरा क्या संघर्ष!

मेरा अनुमान है कि मैंने लेखन को दुनिया से लड़ने के लिये एक हथियार के रूप में अपनाया होगा। दूसरे,इसी में मैंने अपने व्यक्तित्व की रक्षा का रास्ता देखा। तीसरे,अपने को अवशिष्ट होने से बचाने के लिये मैंने लिखना शुरू कर दिया। यह तब की बात है,मेरा ख्याल है, तब ऐसी ही बात होगी।

पर जल्दी ही मैं व्यक्तिगत दुःख के इस सम्मोहन-जाल से निकल गया। मैंने अपने को विस्तार दे दिया।दुःखी और भी हैं। अन्याय पीड़ित और भी हैं। अनगिनत शोषित हैं। मैं उनमें से एक हूँ। पर मेरे हाथ में कलम है और मैं चेतना सम्पन्न हूँ।

यहीं कहीं व्यंग्य - लेखक का जन्म हुआ । मैंने सोचा होगा- रोना नहीं है,लड़ना है। जो हथियार हाथ में है,उसी से लड़ना है। मैंने तब ढंग से इतिहास, समाज, राजनीति और संस्कृति का अध्ययन शुरू किया। साथ ही एक औघड़ व्यक्तित्व बनाया। और बहुत गम्भीरता से व्यंग्य लिखना शुरू कर दिया।

मुक्ति अकेले की नहीं होती। अलग से अपना भला नहीं हो सकता। मनुष्य की छटपटाहट मुक्ति के लिये,सुख के लिये,न्याय के लिये।पर यह बड़ी अकेले नहीं लड़ी जा सकती। अकेले वही सुखी हैं,जिन्हें कोई लड़ाई नहीं लड़नी। उनकी बात अलग है। अनगिनत लोगों को सुखी देखता हूँ और अचरज करता हूँ कि ये सुखी कैसे हैं! न उनके मन में सवाल उठते हैं न शंका उठती है। ये जब-तब सिर्फ शिकायत कर लेते हैं। शिकायत भी सुख देती है। और वे ज्यादा सुखी हो जाते हैं।
कबीर ने कहा है-

सुखिया सब संसार है,खावै अरु सोवे।
दुखिया दास कबीर है,जागे अरु रोवे।

जागने वाले का रोना कभी खत्म नहीं । व्यंग्य-लेखक की गर्दिश भी खत्म नहीं होगी।

ताजा गर्दिश यह है कि पिछले दिनों राजनीतिक पद के लिये पापड़ बेलते रहे। कहीं से उम्मीद दिला दी गई कि राज्यसभा में हो जायेगा। एक महीना बड़ी गर्दिश में बीता। घुसपैठ की आदत नहीं है,चिट भीतर भेजकर बाहर बैठे रहने में हर क्षण मृत्यु-पीड़ा होती है। बहादुर लोग तो महीनों चिट भेजकर बाहर बैठे रहते हैं,मगर मरते नहीं। अपने से नहीं बनता। पिछले कुछ महीने ऐसी गर्दिश के थे। कोई लाभ खुद चलकर दरवाजे पर नहीं आता। चिरौरी करनी पड़ती है। लाभ थूकता है तो उसे हथेली पर लेना पड़ता है,इस कोशिश में बड़ी तकलीफ हुई। बड़ी गर्दिश भोगी।

मेरे जैसे लेखक की एक गर्दिश और है। भीतर जितना बवंडर महसूस कर रहे हैं,उतना शब्दों में नहीं आ रहा है, तो दिन-रात बेचैन हैं। यह बड़ी गर्दिश का वक्त होता है,जिसे सर्जक ही समझ सकता है।

यों गर्दिशों की एक याद है। पर सही बात यह है कि कोई दिन गर्दिश से खाली नहीं है। और न कभी गर्दिश का अन्त होना है। यह और बात है कि शोभा के लिये कुछ अच्छे किस्म की गर्दिशें चुन लीं जाएं। उनका मेकअप कर दिया जाये,उन्हें अदायें सिखा दी जायें- थोड़ी चुलबुली गर्दिश हो तो और अच्छा-और पाठक से कहा जाए-ले भाई,देख मेरी गर्दिश!

-हरिशंकर परसाई

व्यंग्य जीवन से साक्षात्कार करता है- हरिशंकर परसाई

[*व्यंग्य क्या होता है? व्यंग्य की सामाजिक भूमिका क्या है तथा आदि प्रश्नों के बारे में परसाई जी ने अपने विचार अक्सर प्रकट किये हैं। १९६२ में अपने व्यंग्य लेखों के संग्रह 'सदाचार का ताबीज'* की भूमिका लिखते हुये परसाई जी ने इस बारे में विस्तार से लिखा है। यह भूमिका मैं अपने साथियों के लिये यहाँ पेश कर रहा हूँ।]

एक सज्जन अपने मित्र से मेरा परिचय करा रहे थे-यह परसाईजी हैं। बहुत अच्छे लेखक हैं। ही राइट्स फनी थिंग्स।

एक मेरे पाठक(अब मित्रनुमा) मुझे दूर से देखते ही इस तरह हँसी की तिड़तिड़ाहट करके मेरी तरफ बढ़ते हैं,जैसे दिवाली पर बच्चे'तिड़तिड़ी' को पत्थर पर रगड़कर फेंक देते हैं और वह थोड़ी देर तिड़तिड़ करती उछलती रहती है। पास आकर अपने हाथों में मेरा हाथ ले लेते हैं। मजा आ गया। उन्होंने कभी कोई चीज मेरी पढ़ी होगी। अभी सालों से कोई चीज नहीं पढ़ी ,यह मैं जानता हूँ।

एक सज्जन जब भी सड़क पर मिल जाते हैं,दूर से ही चिल्लाते हैं-'परसाईजी नमस्कार!मेरा पथ-प्रदर्शक पाखाना!' बात यह है कि किसी दूसरे आदमी ने कई साल पहले स्थानीय साप्ताहिक में एक मजाकिया लेख लिखा था,*'मेरा पथ-प्रदर्शक पाखाना।'* पर उन्होंने ऐसी सारी चीजों के लिये मुझे जिम्मेदार मान लिया है। मैंने भी नहीं बताया कि वह लेख मैंने नहीं लिखा था। बस,वे जहाँ मिलते हैं-'मेरा पथ प्रदर्शक पाखाना कहकर मेरा अभिवादन करते हैं।

कुछ पाठक समझते हैं कि मैं हमेशा उचक्केपन और हल्केपन के मूड में रहता हूँ। वे चिट्ठी में मखौल करने की कोशिश करते हैं! एक पत्र मेरे सामने है। लिखा है- कहिये जनाब बरसात का मजा ले रहे हैं न! मेढकों की जलतरंग सुन रहे होंगे। इस पर भी लिख डालिये न कुछ।

बिहार के किसी कस्बे से एक आदमी ने लिखा कि तुमने मेरे मामा का, जो फारेस्ट अफसर है,मजाक उड़ाया है। उसकी बदनामी की है। मैं तुम्हारे खानदान का नाश कर दूँगा। मुझे शनि सिद्ध है।

कुछ लोग इस उम्मीद से मिलने आते हैं कि मैं उन्हें ठिलठिलाता ,कुलाँचे मारता,उछलता मिलूँगा और उनके मिलते ही जो मजाक शुरू करूँगा तो सारा दिन दाँत निकालते गुजार देंगे। मुझे वे गम्भीर और कम बोलने वाला पाते हैं। किसी गम्भीर विषय पर मैं बात छेड़ देता हूँ। वे निराश होते हैं। काफी लोगों का यह मत है कि मैं निहायत मनहूस आदमी हूँ।

एक पाठिका ने एक दिन कहा-आप मनुष्यता की भावना की कहानियाँ क्यों नहींलिखते?

और एक मित्र मुझे उस दिन सलाह दे रहे थे- तुम्हें अब गम्भीर हो जाना चाहिये। इट इज़ हाई टाइम!

व्यंग्य लिखने वाले की ट्रेजिडी कोई एक नहीं हैं। 'फ़नी' से लेकर उसे मनुष्यता की भावना से हीन तक समझा जाता है।'मजा आ गया' से लेकर 'गम्भीर हो जाओ' तक की प्रतिक्रयायें उसे सुननी पढ़ती हैं। फिर लोग अपने या अपने मामा,काका के चेहरे देख लेते हैं और दुश्मन बढ़ते जाते हैं। एक बहुत बड़े वयोवृद्ध गाँधी-भक्त साहित्यकार मुझे अनैतिक लेखक समझते हैं। नैतिकता का अर्थ उनके लिये शायद गबद्दूपन होता है।

लेकिन इसके बावजूद ऐसे पाठकों का एक बड़ा वर्ग है,जो व्यंग्य में निहित सामाजिक-राजनीतिक अर्थ संकेत को समझते हैं। वे जब मिलते हैं या लिखते हैं तो मजाक के मूड में नहीं। वे उन स्थितियों की बात करते हैं,जिन पर मैंने व्यंग्य किया है,वे उस रचना के तीखे वाक्य बनाते हैं। वे हालातों के प्रति चिन्तित होते हैं।

आलोचकों की स्थिति कठिनाई की है। गम्भीर कहानियों के बारे में तो वे कह सकते हैं कि संवेदना कैसे पिछलती आ रही है,समस्या कैसे प्रस्तुत की गयी -वगैरह। व्यंग्य के बारे में वह क्या कहे?अक्सर वह कहता है-हिंदी में शिष्ट हास्य का अभाव है।(हम सब हास्य और व्यंग्य के लेखक लिखते-लिखते मर जायेंगे,तब भी लेखकों के बेटे से इन आलोचकों के बेटे कहेंगे कि हिंदी में हास्य -व्यंग्य का अभाव है),हां वे यह और कहते हैं-विद्रूप का उद्घाटन कर दिया,परदाफाश कर दिया है,करारी चोट की है,गहरी मार की है, झकझोर दिया है। आलोचक बेचारा और क्या करे?जीवन बोध,व्यंग्यकार की दृष्टि, व्यंग्यकार की आस्था,विश्वास आदि बातें समझ और मेहनत की मांग करती हैं। किसे पड़ी है?

-अच्छा, तो तुम लोग व्यंग्यकार क्या अपने 'प्राफ़ेट' को समझते हो? 'फनी' कहने पर बुरा मानते हो।खुद हँसाते हो और लोग हँसकर कहते हैं-मजा आ गया,तो बुरा मानते हो और कहते हो-सिर्फ मजा आ गया? तुम नहीं जानते कि इस तरह की रचनायें हल्की मानी

जाती हैं और दो घड़ी के लिये पढ़ी जाती हैं। *[यह बात मैं अपने-आपसे कहता हूँ,अपने-आपसे ही सवाल करता हूँ।]*

-जवाबः हँसना अच्छी बात है। पकौड़े जैसी नाक को देखकर भी हँसा जाता है,आदमी कुत्ते -जैसे भौंके तो भी लोग हँसते हैं। साइकिल पर डबल सवार गिरें ,तो भी लोग हँसते हैं। संगति के कुछ मान बजे हुये होते हैं- जैसे इतने बड़े शरीर में इतनी बड़ी नाक होनी चाहिये। उससे बड़ी होती है ,तो हँसी आती है। आदमी आदमी की ही बोली बोले,ऐसी संगति मानी हुई है। वह कुत्ते-जैसा भौंके तो यह विसंगति हुई और हंसी का कारण। असामंजस्य,अनुपातहीनता,विसंगति हमारी चेतना को छोड़ देते हैं। तब हँसी भी आ सकती है और हँसी नहीं भी आ सकती-चेतना पर आघात पड़ सकता है। मगर विसंगतियों के भी स्तर होते हैं। आदमी कुत्ते की बोली बोले -यह एक विसंगति है। और वनमहोत्सव का आयोजन करने के लिये पेड़ काटकर साफ किये जायें,जहाँ मन्त्री महोदय गुलाब के 'वृक्ष' की कलम रोपें -यह भी एक विसंगति है। दोनों में भेद है,गो दोनों से हँसी आती है। मेरा मतलब है-विसंगति की क्या अहमियत है ,वह जीवन में किस हद तक महत्वपूर्ण है,वह कितनी व्यापक है, उसका प्रभाव कितना है-ये सब बातें विचारणीय हैं। दाँत निकाल देना उतना महत्वपूर्ण नहीं है।

-लेकिन यार,इस बात से क्यों कतराते हो कि इस तरह का साहित्य हल्का ही माना जाता है?

-माना जाता है तो मैं क्या करूँ? भारतेन्दु युग में प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त जो व्यंग्य लिखते थे ,वह कितनी पीड़ा से लिखा जाता था। देश की दुर्दशा पर वे किसी भी कौम के रहनुमा से ज्यादा रोते थे। हाँ,यह सही है कि इसके बाद रुचि कुछ ऐसी हुई कि हास्य का लेखक विदूषक बनने को मजबूर हुआ । 'मदारी और डमरू','टुनटुन'जैसे पत्र निकले और हास्यरस के कवियों ने 'चोंच' और 'काग' जैसे उपनाम रखे। याने हास्य के लिये रचनाकार को हास्यास्पद होना पड़ा। अभी भी यही मजबूरी बची है। तभी कुंजबिहारी पाण्डे को 'कुत्ता' शब्द आने पर मंच पर भौंककर बताना पड़ता है और काका हाथरसी को अपनी पुस्तक के कवर पर अपना कार्टून छपाना पड़ता है। बात यह है कि हिन्दी-उर्दू की मिश्रित हास्य-व्यंग्य परम्परा कुछ साल चली,जिसने हास्य रस को भड़ौआ बनाया। इसमें बहुत कुछ हल्का है। यह सीधी सामन्ती वर्ग के मनोरंजन की जरूरत से पैदा हुई थी। शौकत थानवी की एक पुस्तक का नाम ही 'कुतिया' है। अज़ीमबेग चुग़ताई नौकरानी की लड़की से 'फ्लर्ट' करने की तरकीबें बताते हैं! कोई अचरज नहीं कि हास्य-व्यंग्य के लेखकों को लोगों ने हल्के ,गैरजिम्मेदार और हास्यास्पद मान लिया हो।

-और 'पत्नीवाद' वाला हास्यरस! वह तो स्वस्थ है ? उसमें पारिवारिक-सम्बन्धों की निर्मल आत्मीयता होती है?

-स्त्री से मजाक एक बात है और स्त्री का उपहास दूसरी बात। हमारे समाज में कुचले हुये का उपहास किया जाता है। स्त्री आर्थिक रूप से गुलाम रही ,उसका कोई व्यक्तित्व नहीं बनने दिया गया,वह अशिक्षित रही,ऐसी रही-तब उसकी हीनता का मजाक करना 'सेफ' हो गया। पत्नी के पक्ष के सब लोग हीन और उपहास के पात्र हो गये-खासकर साला,गो हर आदमी किसी न किसी का साला होता है। इसी तरह घर का नौकर सामन्ती परिवारों में मनोरंजन का माध्यम होता है। उत्तर भारत के सामन्ती परिवारों की परदानशीन दमित रईस-जादियों का मनोरंजन घर के नौकर का उपहास करके होता है। जो जितना मूर्ख , सनकी और पौरुषहीन हो ,वह नौकर उतना ही दिलचस्प होता है। इसलिये सिकन्दर मियाँ चाहे काफी बुद्धिमान हों,मगर जानबूझकर बेवकूफ बन जाते हैं क्योंकि उनका ऐसा होना नौकरी को सुरक्षित रखता है। सलमा सिद्धीकी ने सिकन्दरनामा में ऐसे ही पारिवारिक नौकर की कहानी लिखी है। मैं सोचता हूँ सिकन्दर मियाँ अपनी नजर से उस परिवार की कहानी कहें,तो और अच्छा हो।

-तो क्या पत्नी,साला,नौकर,नौकरानी आदि को हास्य का विषय बनाना अशिष्टता है?

-'वल्गर' है। इतने व्यापक सामाजिक जीवन में इतनी विसंगतियाँ हैं। उन्हें न देखकर बीबी की मूर्खता बयान करना बड़ी संकीर्णता है।

और 'शिष्ट' और 'अशिष्ट' क्या है?

-अक्सर 'शिष्ट' हास्य की माँग वे करते हैं,जो शिकार होते हैं। भ्रष्टाचारी तो यही चाहेगा कि आप मुंशी की या साले की मजाक का शिष्ट हास्य करते रहें और उस पर चोट न करें। हमारे यहाँ तो हत्यारे'भ्रष्टाचारी' पीड़क से भी 'शिष्टता' बरतने की माँग की जाती है-'अगर जनाब बुरा न माने तो अर्ज है कि भ्रष्टाचार न किया करें। बड़ी कृपा होगी सेवक पर।' व्यंग्य में चोट होती ही है। जिन पर होती है वह कहते हैं-'इसमें कटुता आ गयी। शिष्ट हास्य लिखा करिये।' मार्क ट्वेन की वे रचनायें नये संकलनों में नहीं आतीं,जिनमें उसने अमेरिकी शासन और मोनोपोली के बखिये उधेड़े हैं। वह उसे केवल शिष्ट हास्य का मनोरंजन देने वाला लेखक बताना चाहते हैं- 'ही डिलाइटेड मिलियन्स'।

-तो तुम्हारा मतलब यह है कि मनोरंजन के साथ व्यंग्य में समाज की समीक्षा भी होती है?

-हाँ,व्यंग्य जीवन से साक्षात्कार कराता है,जीवन की आलोचना करता है,विसंगतियों, मिथ्याचारों और पाखण्डों का परदाफाश करता है।

-यह नारा हो गया।

-नारा नहीं है। मैं यह कह रहा हूँ कि जीवन के प्रति व्यंग्यकार की उतनी ही निष्ठा होती है ,जितनी गम्भीर रचनाकार की- बल्कि ज्यादा ही,वह जीवन के पति दायित्व का अनुभव करता है।

-लेकिन वह शायद मनुष्य के बारे में आशा खो चुका होता है। निराशावादी हो जाता है। उसे मनुष्य की बुराई ही दीखती है। तुम्हारी रचनाओं में देखो-सब चरित्र बुरे ही हैं।

-यह कहना तो इसी तरह हुआ कि डाक्टर से कहा जाये कि तुम रुग्ण मनोवृत्ति के आदमी हो। तुम्हें रोग ही रोग दीखते हैं। मनुष्य के बारे में आशा न होती ,तो हम उसकी कमजिरियों पर क्यों रोते? क्यों उससे कहते कि यार तू जरा कम बेवकूफ ,विवेकशील,सच्चा और न्यायी हो जा।

-तो तुम लोग रोते भी हो। मेरा तो ख्याल था कि तुम सब पर हँसते हो।

- जिंदगी बहुत जटिल चीज है। इसमें खालिस हँसना या खालिस रोना-जैसी चीज नहीं होती। बहुत सी हास्य रचनाओं में करुणा की अन्तर्धारा होती है। चेखव की कहानी' क्लर्क की मौत' क्या हँसी की कहानी है? उसका व्यंग्य कितना गहरा,ट्रेजिक और करुणामय है। चेखव की ही एक कम प्रसिद्ध कहानी है-'किरायेदार।' इसका नायक 'जोरू का गुलाम' है- बीबी के होटल का प्रबन्ध करता है। अपनी नौकरी छोड़ आया है। अब बीबी का गुलाम उपहास का पात्र होता है न! मगर इस कहानी में यह बीबी का गुलाम अन्त में बड़ी करुणा पैदा करता है। अच्छा व्यंग्य सहानुभूति का सबसे उत्कृष्ट रूप होता है।

-अच्छा यार, तुम्हें आत्म-प्रचार का मौका दिया गया था। पर तुम अपना कुछ न कहकर जनरल ही बोलते जा रहे हो। तुम्हारी रचनाओम को पढ़कर कुछ बातें पूछी जा सकती हैं। क्या तुम सुधारक हो?तुममें आर्य समाजी-वृत्ति देखी जाती है।

-कोई सुधर जाये तो मुझे क्या एतराज है। वैसे मैं सुधार के लिये नहीं,बदलने के लिये लिखना चाहता हूँ। याने कोशिश करता हूँ-चेतना में हलचल हो जाये,कोई विसंगति नजर के सामने आ जाये।इतना काफी है। सुधरने वाले खुद अपनी चेतना से सुधरते हैं। मेरी एक कहानी है-'सदाचार का तावीज'। इसमें कोई सुधारवादी संकेत नहीं हैं। कुल इतना है कि तावीज बाँधकर आदमी को ईमानदार बनाने की कोशिश की जा रही है,(भाषणों और उपदेशों से)। सदाचार का तावीज बाँधे बाबू दूसरी तारीख को घूस लेने से इंकार कर देता है मगर २९ तारीख को ले लेता है-'उसकी तन्ख्वाह खत्म हो गयी । तावीज बंधा है, मगर जेब खाली है।' संकेत मैं यह करना चाहता हूँ कि बिना व्यवस्था परिवर्तन किये,भ्रष्टाचार के मौके को खत्म किये और कर्मचारियों को बिना आर्थिक सुरक्षा दिये, भाषणों ,सर्कुलरों,

उपदेशों,सदाचार समितियों,निगरानी आयोगों के द्वारा कर्मचारी सदाचारी नहीं होगा। इसमें कोई उपदेश नहीं है। उपदेश का चार्ज वे लोग लगाते हैं, जो किसी के प्रति दायित्व का कोई अनुभव नहीं करते। वह सिर्फ अपने को मनुष्य मानते हैं और सोचते हैं कि हम कीड़ों के बीच रहने को अभिशप्त हैं। यह लोग तो कुत्ते की दुम में पटाखे की लड़ी बाँधकर उसमें आग लगाकर कुत्ते के मृत्यु-भय पर भी ठहाका लगा लेते हैं।

-अच्छा यार, बातें तो और भी बहुत -सी करनी थीं। पर पाठक बोर हो जायेंगे। बस एक बात बताओ-तुम इतना राजनीतिक व्यंग्य क्यों लिखते हो?
-इसलिये कि राजनीति बहुत बड़ी निर्णायक शक्ति हो गयी है। वह जीवन से बिल्कुल मिली हुई है। वियतनाम की जनता पर बम क्यों बरस रहे हैं? क्या उस जनता की कुछ अपनी जिम्मेदारी है? यह राजनीतिक दाँव-पेंच के बम हैं। शहर में अनाज और तेल पर मुनाफाखोरी कम नहीं हो सकती,क्योंकि व्यापरियों के क्षेत्र से अमुक-अमुक को चुनकर जाना है।राजनीति -सिद्धान्त और व्यवहार की- हमारे जीवन का एक अंग है। उससे नफरत करना बेवकूफी है। राजनीति से लेखक को दूर रखने की बात वही करते हैं,जिनके निहित स्वार्थ हैं,जो डरते हैं कि कहीं लोग हमें समझ न जायें। मैंने पहले भी कहा है कि राजनीति को नकारना भी एक राजनीति है।

-अच्छा तो बात को यहीं खत्म करें! तुम अब राजनीति पर चर्चा करने लगे । इससे लेबिल चिपकते हैं।
-लेबिल का क्या डर! दूसरों को देशद्रोही कहने वाले,पाकिस्तान को भूखे बंगाल का चावल 'स्मगल' करते हैं। ये सारे रहस्य मुझे समझ में आते हैं। मुझे डराने की कोशिश मत करो।

-हरिशंकर परसाई
१९६२ में प्रकाशित **सदाचार का ताबीज** से **साभार**

पहिला सफेद बाल

[परसाईजी के लेखों की श्रंखला में पेश है उनका प्रसिद्ध व्यंग्य लेख- ***पहिला सफेद बाल।*** *इस लेख में जो यौवन की परिभाषा परसाईजी ने बतायी है वह मुझे खासतौर पर आकर्षित करती है-****यौवन नवीन भाव, नवीन विचार ग्रहण करने की तत्परता का नाम है; यौवन साहस, उत्साह, निर्भयता और खतरे-भरी जिन्दगी का नाम हैं,; यौवन लीक से बच***

निकलने की इच्छा का नाम है। और सबसे ऊपर, बेहिचक बेवकूफ़ी करने का नाम यौवन है। *| यह लेख पढ़िये और देखिये आपमें कितना यौवन बचा है। कितना बेहिचक बेवकूफ़ी करने का माद्दा बचा है आपमें*]

आज पहिला सफ़ेद बाल दिखा। कान के पास काले बालों के बीच से झांकते इस पतले रजत-तार ने सहसा मन को झकझोर दिया।

ऎसा लगा जैसे बसन्त में वनश्री देखता घूम रहा हूं कि सहसा किसी झाड़ी से शेर निकल पड़े;

या पुराने जमाने में किसी मजबूत माने जानेवाले किले की दीवार पर रात को बेफ़िक्र घूमते गरबीले किलेदार को बाहर से चढ़ते हुए शत्रु के सिपाही की कलगी दिख जाय;

या किसी पार्क के कुंज में अपनी राधा को ह्रदय से लगाये प्रेमी को एकाएक राधा का बाप आता दिख जाय।

कालीन पर चलते हुए कांटा चुभने का दर्द बड़ा होता है। मैं अभी तक कालीन पर चल रहा था। रोज नरसीसस जैसी आत्म-रति से आईना देखता था, घुंघराले काले केशों को देखकर, सहलाकर, संवारकर, प्रसन्न होता था। उम्र को ठेलता जाता था, वार्द्धक्य को अंगूठा दिखाता था। पर आज कान में यह सफ़ेद बाल फ़ुस-फ़ुसा उठा, '**भाई मेरे, एक बात 'कानफ़िडेन्स' में कहूं- अपनी दूकान समेटना अब शुरू कर दो**!'

तभी से दुखी हूं। ज्ञानी समझायेगें-जो अवश्यम्भावी है, उसके होने का क्या दु:ख? जी हां, मौत भी तो अवश्यम्भावी है। तो क्या जिन्दगी-भर मरघट में अपनी चिता रचते रहें? और ज्ञानी से कहीं हर दुख जीता गया? वे क्या कम ज्ञानी थे, जो मरणासन्न लक्ष्मण का सिर गोद में लेकर विलाप कर रहे थे- '**मेरो सब पुरूषारथ थाको**!' स्थितप्रज्ञ दर्शन अर्जुन को समझानेवाले की आंख उद्धव से गोकुल की व्यथा-कथा सुनकर, डबडबा आयी थी। मरण को त्यौहार
माननेवाले ही म्रत्यु से सबसे अधिक भयभीत होते हैं। वे त्योहार का हल्ला करके अपने ह्रदय के सत्य भय को दबाते हैं।

मैं वास्तव में दुखी हूं। सिर पर सफ़ेद कफ़न बुना जा रहा है; आज पहिला तार डाला गया है। उम्र बुनती जायगी इसे और यह यौवन की लाश को ढंक लेगा। दु:ख नही होगा मुझे? दु:ख उन्हें नहीं होगा, जो बूढ़े ही जन्मे है।

मुझे गुस्सा है, इस आईने पर। वैसे तो यह बड़ा दयालु है, विक्रति को सुधार-कर चेहरा सुडौल बनाकर बताता रहा है। आज एकाएक यह कैसे क्रूर हो गया! क्या इस एक बाल को छिपा नहीं सकता था? इसे दिखाये बिना क्या उसकी ईमानदारी पर बड़ा कलंक लग जाता? उर्दू-कवियों ने ऎसे संवेदनशील आईनों का जिक्र किया है, जो माशूक के चेहरे में अपनी ही तस्वीर देखने लगते है, जो उस मुख के सामने आते ही गश खाकर गिर पड़ते है; जो उसे पूरी तरह प्रतिबिम्बित न कर सकने के कारण चटक जाते हैं। सौन्दर्य का सामना करना कोई खेल नहीं है। मूसा बेहोश हो गया था। ऎसे भले आईने होते हैं, उर्दू-कवियों के। और यह एक हिन्दी लेखक का आईना है।

मगर आईने का क्या दोष? बाल तो अपना सफ़ेद हुआ है। सिर पर धारण किया, शरीर का रस पिलाकर पाला, हजारों शीशियां तेल की उड़ेल दीं- और ये धोखा दे गये। संन्यासी शायद इसीलिए इनसे छुट्टी पा लेता है कि उस विरागी का साहस भी इनके सामने लड़खड़ा जाता है।

आज आत्मविश्वास उठा जाता है; साहस छूट रहा है। किले में आज पहिली सुरंग लगी है। दुश्मन को आते अब क्या देर लगेगी!

क्या करूं? इसे उखाड़ फ़ेंकूं? लेकिन सुना है, यदि एक सफ़ेद बाल को उखाड़ दो, तो वहां एक गुच्छा सफ़ेद हो जाता है। रावण जैसा वरदानी होता, कमबख्त। मेरे
चाचा ने एक नौकर सफ़ेद बाल उखाड़ने के लिए ही रखा था। पर थोड़े ही समय में उनके सिर पर कांस फ़ूल उठा था। एक तेल बड़ा '**मनराखन** ' हो गया है। कहते हैं उससे बाल काले हो जाते है (नाम नही लिखता, व्यर्थ प्रचार होगा), उस तेल को लगाऊं ? पर उससे भी शत्रु मरेगा नहीं, उसकी वर्दी बदल जायेगी। कुछ लोग खिजाब लगाते है। वे बड़े दयनीय होते हैं। बुढापे से हार मानकर, यौवन का ढोंग रचते हैं। मेरे एक परिचित खिजाब लगाते थे। शनिवार को वे बूढे लगते और सोमवार को जवान- इतवार उनका रंगने का दिन था। न जाने वे ढलती उम्र में काले बाल किसे दिखाते थे! शायद तीसरे विवाह की पत्नी को। पर वह उन्हें बाल रंगते देखती तो होगी ही। और क्या स्त्री को केवल काले बाल दिखाने से यौवन का भ्रम उत्मन्न किया जा सकता है? नहीं, यह सब नहीं होगा। शत्रु को

सिर पर बिठाये रखना पड़ेगा। जानता हूं, धीरे-धीरे सब वफ़ादार बालों को अपनी ओर मिला लेगा।

याद आती हैं, मेरे समानधर्मी, कवि केशवदास की, जिसे '**चन्द्रवदन म्रगलोचनी**' ने बाबा कह दिया, तो वह बालों पर बरस पड़ा था। हे मेरे पूर्वज, दुखी, रसिक कवि! तेरे मन की ऍंठन मैं अब बखूबी समझ सकता हूं। मैं चला आ रहा हूं, तेरे पीछे। मुझे '**बाबा**' तो नहीं, पर '**दादा**' कहने लगी है- बस, थोड़ा ही फ़ासला है! मन बहुत विचलित है। आत्म-रति के अतिरेक का फ़ल नरसीसस ने भोगा था, मुझे भी भोगना पड़ेगा। मुझे एक अन्य कारण से डर है। मैने देखा है, सफ़ेद बाल के आते ही आदमी हिसाब लगाने लगता है कि अब तक क्या पाया, आगे क्या करना है और भविष्य के लिए क्या संचय किया। हिसाब लगाना अच्छा नहीं होता। इससे जिन्दगी में वणिक-व्रत्ति आती है और जिस से कुछ मिलता है, और जिस दिशा से कुछ मिलता है, आदमी उसी दिशा में सिजदा करता है। बड़े-बड़े 'हीरो' धराशायी होते है। बड़ी-बड़ी देव-प्रतिमाएं खण्डित होती है। राजनीति, साहित्य, जन-सेवा के क्षेत्र की कितनी महिमा-मण्डित मूर्तियां इन आंखों ने टूटते देखी हैं; कितनी आस्थाएं भंग होते देखी है। बड़ी खतरनाक उम्र है यह; बड़े समझौते होते सफ़ेद बालों के मौसम में। यह सुलह का झण्डा सिर पर लहराने लगा है। यह घोषणा कर रहा है-'अब तक के शत्रुओ! मैने हथियार डाल दिये हैं। आओ, सन्धि कल लें।' तो क्या सन्धि होगी-उनसे, जिनसे संघर्ष होता रहा? समझौता होगा उससे, जिसे गलत मानता रहा?

पर आज एकदम ये निर्णायक प्रश्न मेरे सामने क्यों खड़े हो गये? बाली की जड़ बहुत गहरी नहीं होती! ह्रदय से तो उगता नहीं है यह! यह सतही है, बेमानी? यौवन सिर्फ़ काले बालों का नाम नहीं है। यौवन नवीन भाव, नवीन विचार ग्रहण करने की तात्परता का नाम है; यौवन साहस, उत्साह, निर्भयता और खतरे-भरी जिन्दगी का नाम हैं,; यौवन लीक से बच निकलने की इच्छा का नाम है। और सबसे ऊपर, बेहिचक बेवकूफ़ी करने का नाम यौवन है। मैं बराबर बेवकूफ़ी करता जाता हूं। यह सफ़ेद झण्डा प्रवचना है। हिसाब करने की कोई जल्दी नहीं है। सफ़ेद बाल से क्या होता है?

यह सब मैं किसी दूसरे से नहीं कह रहा हूं, अपने आपको ही समझा रहा हूं। द्विमुखी संघर्ष है यह- दूसरों को भ्रमित करना और मन को समझाना। दूसरों
से भय नही। सफ़ेद बालों से किसी और का क्या बिगड़ेगा? पर मन तो अपना है। इसे तो समझाना ही पड़ेगा कि भाई तू परेशान मत हो। अभी ऎसा क्या हो गया है! यह् तो पहिला ही है। और फ़िर अगर तू नही ढीला होता, तो क्या बिगड़नेवाला है!

पहले सफ़ेद बाल का दिखना एक पर्व है। दशरथ को कान के पास सफ़ेद बाल दिखे, तो उन्होने राम को राजगद्दी देने का संकल्प किया। उनके चार पुत्र थे। उन्हें देने का सुभीता था। मैं किसे सौपू? कोई कन्धा मेरे सामने नही हैं, जिस पर यह गौरवमय भार रख दूं। किस पुत्र को सौपूं? मेरे एक मित्र के तीन पुत्र हैं। सबेरे यह मेरा दशरथ अपने कुमारों को चुल्लू-चुल्लू पानी मिला दूध बांटता है। इनके कन्धे ही नही है-भार कहां रखेगें? बड़े आदमियों के दो तरह के पुत्र होते हैं- वे जो वास्तव में हैं, पर कहलाते नहीं है और वे जो कहलाते है, पर हैं नहीं। जो कहलाते हैं, वे धन-सम्पत्ति के मालिक बनते हैं और जो वास्तव में हैं, वे कही पंखा खीचते हैं या बर्तन मांजते हैं। होने से कहलाना ज्यादा लाभदायक है।

अपना कोई पुत्र नही। होता तो मुश्किल में पड़ जाते। क्या देते? राज-पाट के दिन गये, धन-दौलत के दिन है। पर पास ऎसा कुछ नहीं है, जो उठाकर दे दिया जाय। न उत्तराधिकारी है, न उसका प्राप्य। यह पर्व क्या बिना दिये चला जायेगा।

पर हम क्या दें? महायुद्ध की छाया में बढ़े हम लोग; हम गरीबी और अभाव में पले लोग; केवल जिजीविषा खाकर जिये हम लोग। हमारी पीढ़ी के बाल तो जन्म से ही सफ़ेद हैं। हमारे पास क्या हैं? हां, भविष्य है, लेकिन वह भी हमारा नहीं, आनेवालों का है। तो इतना रंक नही हूं-विराट भविष्य तो है। और अब उत्तराधिकारी की समस्या भी हल हो गयी। पुत्र तो पीढ़ियों के होते हैं। केवल जन्मदाता किसी का पिता नहीं होता। विराट भविष्य को एक पुत्र ले भी कैसे सकता हैं? इससे क्या कि कौन किसका पुत्र होगा, कौन किसका पिता कहलायेगा! मेरी पीढ़ी के समस्त पुत्रों! मैं तुम्हें वह भविष्य ही देता हूं। यद्यपि वह अभी मूर्त नहीं हुआ है, पर हम जुटे हैं, उसे मूर्त करने। हम नीव मे धंस रहे है कि तुम्हारे लिए एक भव्य भविष्य रचा जा सके। वह एक वर्तमान बनकर ही आयेगा- हमारा तो कोई वर्तमान भी नही था। मैं तुम्हें भविष्य देता हूं और इसे देने का अर्थ यह है कि हम अपने-आपको दे रहे हैं, क्योकि उसके निर्माण में अपने-आपको मिटा रहे हैं।

लो सफ़ेद बाल दिखने के इस पर्व पर यह तुम्हारा प्राप्य संभालो। होने दो हमारे बाल सफ़ेद। हम काम में तो लगे है-**जानते है कि काम बन्द करने और मरने का क्षण एक ही होता है।** हमें तुमसे कुछ नही चाहिए। ययाति-जैसे स्वार्थी हम नही है जो पुत्र की जवानी लेकर युवा हो गया था। बाल के साथ, उसने मुंह भी काला कर लिया।

हमें तुमसे कुछ नहीं चाहिए। हम नीव में धंस रहे है; लो हम तुम्हें कलश देते है।

ठिठुरता हुआ गणतंत्र

चार बार मैं गणतन्त्र-दिवस का जलसा दिल्ली में देख चुका हूं। पांचवीं बार देखने का साहस नहीं। आखिर यह क्या बात है कि हर बार जब मैं गणतन्त्र-समारोह देखता, तब मौसम बड़ा क्रूर रहता। छब्बीस जनवरी के पहले ऊपर बर्फ़ पड़ जाती है। शीत-लहर आती है, बादल छा जाते हैं, बूंदाबांदी होती है और सूर्य छिप जाता है। जैसे दिल्ली की अपनी कोई अर्थनीति नहीं है, वैसे ही अपना मौसम भी नहीं है। अर्थनीति जैसे डालर, पौण्ड, रुपया, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष या भारत सहायता क्लब से तय होती है, वैसे ही दिल्ली का मौसम कश्मीर, सिक्किम, राजस्थान आदि तय करते हैं।

इतना बेवकूफ़ भी नहीं कि मान लूं , जिस साल मैं समारोह देखता हूं, उसी साल ऐसा मौसम रहता है। हर साल देखने वाले बताते हैं कि हर गणतन्त्र-दिवस पर मौसम ऐसा ही धूपहीन ठिठुरनवाला होता है।

आखिर बात क्या है? रहस्य क्या है?

जब कांग्रेस टूटी नहीं थी, तब मैंने एक कांग्रेस मंत्री से पूछा था कि यह क्या बात है कि हर गणतन्त्र-दिवस को सूर्य छिपा रहता है? सूर्य की किरणों के तले हम उत्सव क्यों नहीं मना सकते?उन्होंने कहा-जरा धीरज रखिये। हम कोशिश में हैं कि सूर्य बाहर आ जाये। पर इतने बड़े सूर्य को बाहर निकालना आसान नहीं हैं। वक्त लगेगा। हमें सत्ता के कम से कम सौ वर्ष तो दीजिये।

दिये। सूर्य को बाहर निकालने के लिये सौ वर्ष दिये, मगर हर साल उसका छोटा-मोटा कोना तो निकलता दिखना चाहिये। सूर्य कोई बच्चा तो है नहीं जो अन्तरिक्ष की कोख में अटका है, जिसे आप आपरेशन करके एक दिन में निकाल देंगे।

इधर जब कांग्रेस के दो हिस्से हो गये तब मैंने एक इंडिकेटी कांग्रेस से पूछा। उसने कहा-'हम हर बार सूर्य को बादलों से बाहर निकालने की कोशिश करते थे, पर हर बार सिण्डीकेट वाले अडंगा डाल देते थे। अब हम वादा करते हैं कि अगले गणतन्त्र दिवस पर सूर्य को निकालकर बतायेंगे।

एक सिण्डीकेटी पास खड़ा सुन रहा था। वह बोल पड़ा- ‘यह लेडी(प्रधानमंत्री) कम्युनिस्टों के चक्कर में आ गई है।वही उसे उकसा रहे हैं कि सूर्य को निकालो। उन्हें उम्मीद है कि बादलों के पीछे से उनका प्यारा ‘लाल सूरज’ निकलेगा। हम कहते हैं कि सूर्य को निकालने की क्या जरूरत है? क्या बादलों को हटाने से काम नहीं चल सकता?

मैं संसोपाई भाई से पूछता हूं। वह कहता है-’सूर्य गैर-कांग्रेसवाद पर अमल कर रहा है। उसने डाक्टर लोहिया के कहने पर हमारा पार्टी-फार्म दिया था। कांग्रेसी प्रधानंमंत्री को सलामी लेते वह कैसे देख सकता है? किसी गैर-कांग्रेसी को प्रधानमंत्री बना दो, तो सूर्य क्या ,उसके अच्छे भी निकल पड़ेंगे।

जनसंघी भाई से भी पूछा। उसने कहा-’ सूर्य सेक्युलर होता तो इस सरकार की परेड में निकला आता। इस सरकार से आशा मत करो कि भगवान अंशुमाली को निकाल सकेगी। हमारे राज्य में ही सूर्य निकलेगा।

साम्यवादी ने मुझसे साफ़ कहा-’ यह सब सी.आई.ए. का षडयंत्र है। सातवें बेड़े से बादल दिल्ली भेजे जाते हैं।’

स्वतन्त्र पार्टी के नेता ने कहा-’ रूस का पिछलग्गू बनने का और क्या नतीजा होगा?

प्रसोपा भाई ने अनमने ढंग से कहा-’ सवाल पेचीदा है। नेशनल कौंशिल की अगली बैठक में इसका फ़ैसला होगा। तब बताऊंगा।’

राजाजी से मैं मिल न सका। मिलता, तो वह इसके सिवा क्या कहते कि इस राज में तारे निकलते हैं, यही गनीमत है।’

मैं इन्तजार करूंगा, जब भी सूर्य निकले।

स्वतंत्रता-दिवस भी तो भरी बरसात में होता है। अंग्रेज बहुत चालाक हैं। भरी बरसात में स्वतन्त्र करके चले गये। उस कपटी प्रेमी की तरह भागे, जो प्रेमिका का छाता भी ले जाये। वह बेचारी भीगती बस-स्टैण्ड जाती है, तो उसे प्रेमी की नहीं, छाता-चोर की याद सताती है।

स्वतंत्रता-दिवस भीगता है और गणतन्त्र-दिवस ठिठुरता है।

मैं ओवरकोट में हाथ डाले परेड देखता हूं। प्रधानमंत्री किसी विदेशी मेहमान के साथ खुली गाड़ी में निकलती हैं। रेडियो टिप्पणीकार कहता है-'घोर करतल-ध्वनि हो रही है।' मैं देख रहा हूं, नहीं हो रही है। हम सब तो कोट में हाथ डाले बैठे हैं।बाहर निकालने का जी नहीं हो रहा है। हाथ अकड़ जायेंगे।

लेकिन हम नहीं बजा रहे हैं, फिर भी तालियां बज रहीं हैं। मैदान में जमीन पर बैठे वे लोग बजा रहे हैं, जिनके पास हाथ गरमाने के लिये कोट नहीं है। लगता है,
गणतन्त्र ठिठुरते हुये हाथों की तालियों पर टिका है। गणतन्त्र को उन्हीं हाथों की ताली मिलतीं हैं, जिनके मालिक के पास हाथ छिपाने के लिये गर्म कपड़ा नहीं है।

पर कुछ लोग कहते हैं-'गरीबी मिटनी चाहिये।' तभी दूसरे कहते हैं-'ऐसा कहने वाले प्रजातन्त्र के लिये खतरा पैदा कर रहे हैं।'

गणतंत्र-समारोह में हर राज्य की झांकी निकलती है। ये अपने राज्य का सही प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। '**सत्यमेव जयते**' हमारा मोटो है मगर झांकियां झूठ बोलती हैं। इनमें विकास-कार्य, जनजीवन इतिहास आदि रहते हैं। असल में हर राज्य को उस विशिष्ट बात को यहां प्रदर्शित करना चाहिये

जिसके कारण पिछले साल वह राज्य मशहूर हुआ। गुजरात की झांकी में इस साल दंगे का दृश्य होना चाहिये, जलता हुआ घर और आग में झोंके जाते बच्चे। पिछले साल मैंने उम्मीद की थी कि आन्ध्र की झांकी में हरिजन जलते हुये दिखाये जायेंगे। मगर ऐसा नहीं दिखा। यह कितना बड़ा झूठ है कि कोई राज्य दंगे के कारण अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति पाये,लेकिन झांकी सजाये लघु उद्योगों की। दंगे से अच्छा गृह-उद्योग तो इस देश में दूसरा है नहीं। मेरे मध्यप्रदेश ने दो साल पहले सत्य के नजदीक पहुंचने की कोशिश की थी। झांकी में अकाल-राहत कार्य बतलाये गये थे। पर सत्य अधूरा रह गया था। मध्यप्रदेश उस साल राहत कार्यों के कारण नहीं, राहत-कार्यों में घपले के कारण मशहूर हुआ था। मेरा सुझाव माना जाता तो मैं झांकी में झूठे मस्टर रोल भरते दिखाता, चुकारा करनेवाले का अगूंठा हजारों मूर्खों के नाम के आगे लगवाता। नेता, अफसर, ठेकेदारों के बीच लेन-देन का दृश्य दिखाता। उस झांकी में वह बात नहीं आयी। पिछले साल स्कूलों के 'टाट-पट्टी काण्ड' से हमारा राज्य मशहूर हुआ। मैं पिछले साल की झांकी में यह दृश्य दिखाता-
'मंत्री, अफसर वगैरह खड़े हैं और टाट-पट्टी खा रहे हैं।

जो हाल झांकियों का, वही घोषणाओं का। हर साल घोषणा की जाती है कि समाजवाद आ रहा है। पर अभी तक नहीं आया। कहां अटक गया? लगभग सभी दल समाजवाद लाने का दावा कर रहे हैं, लेकिन वह नहीं आ रहा।

मैं एक सपना देखता हूं। समाजवाद आ गया है और वह बस्ती के बाहर टीले पर खड़ा है। बस्ती के लोग आरती सजाकर उसका स्वागत करने को तैयार खड़े हैं।पर टीले को घेरे खड़े हैं कई समाजवादी। उनमें से हरेक लोगों से कहकर आया है कि समाजवाद को हाथ पकड़कर मैं ही लाऊंगा।

समाजवाद टीले से चिल्लाता है-'मुझे बस्ती में ले चलो।'

मगर टीले को घेरे समाजवादी कहते हैं -'पहले यह तय होगा कि कौन तेरा हाथ पकड़कर ले जायेगा।'

समाजवाद की घेराबंदी कर रखी है। संसोपा-प्रसोपावाले जनतान्त्रिक समाजवादी हैं, पीपुल्स डेमोक्रेसी और नेशनल डेमोक्रेसीवाले समाजवादी हैं। क्रान्तिकारी समाजवादी हैं। हरेक समाजवाद का हाथ पकड़कर उसे बस्ती में ले जाकर लोगों से कहना चाहता है-' लो, मैं समाजवाद ले आया।'

समाजवाद परेशान है। उधर जनता भी परेशान है। समाजवाद आने को तैयार खड़ा है, मगर समाजवादियों में आपस में धौल-धप्पा हो रहा है। समाजवाद एक तरफ उतरना चाहता है कि उस पर पत्थर पड़ने लगते हैं।'खबरदार, उधर से मत जाना!' एक समाजवादी उसका एक हाथ पकड़ता है, तो दूसरा हाथ पकड़कर खींचता है। तब बाकी समाजवादी छीना-झपटी करके हाथ छुड़ा देते हैं। लहू-लुहान समाजवाद टीले पर खड़ा है।

इस देश में जो जिसके लिये प्रतिबद्ध है, वही उसे नष्ट कर रहा है। लेखकीय स्वतंत्रता के लिये प्रतिबद्ध लोग ही लेखक की स्वतंत्रता छीन रहे हैं। सहकारिता केलिये प्रतिबद्ध इस आन्दोलन के लोग ही सहकारिता को नष्ट कर रहे हैं। सहकारिता तो एक स्पिरिट है। सब मिलकर सहकारितापूर्वक खाने लगते हैं और आन्दोलन को नष्ट कर देते हैं। समाजवाद को समाजवादी ही रोके हुये हैं।

यों प्रधानमंत्री ने घोषणा कर दी है कि अब समाजवाद आ ही रहा है।

मैं एक कल्पना कर रहा हूं।

दिल्ली में फरमान जारी हो जायेगा-'समाजवाद सारे देश के दौरे पर निकल रहा है।उसे सब जगह पहुंचाया जाये। उसके स्वागत और सुरक्षा का पूरा बन्दोंबस्त किया जाये।

एक सचिव दूसरे सचिव से कहेगा-'लो, ये एक और वी.आई.पी. आ रहे हैं। अब इनका इन्तजाम करो। नाक में दम है।'

कलेक्टरों को हुक्म चला जायेगा। कलेक्टर एस.डी.ऑ. को लिखेगा, एस.डी.ऑ.तहसीलदार को।

पुलिस-दफ्तरों में फरमान पहुंचेंगे, समाजवाद की सुरक्षा की तैयारी करो।

दफ्तरों में बड़े बाबू छोटे बाबू से कहेंगे-'काहे हो तिवारी बाबू, एक कोई समाजवाद वाला कागज आया था न! जरा निकालो!'

तिवारी बाबू कागज निकालकर देंगे। बड़े बाबू फिर से कहेंगे-'अरे वह समाजवाद तो परसों ही निकल गया। कोई लेने नहीं गया स्टेशन। तिवारी बाबू, तुम कागज दबाकर रख लेते हो। बड़ी खराब आदत है तुम्हारी।'

तमाम अफसर लोग चीफ-सेक्रेटरी से कहेंगे-'सर, समाजवाद बाद में नहीं आ सकता? बात यह है कि हम उसकी सुरक्षा का इन्तजाम नहीं कर सकेंगे। पूरा फोर्स दंगे से निपटने में लगा है।'

मुख्य सचिव दिल्ली लिख देगा-'हम समाजवाद की सुरक्षा का इंतजाम करने में असमर्थ हैं। उसका आना अभी मुलत्वी किया जाये।'

जिस शासन-व्यवस्था में समाजवाद के आगमन के कागज दब जायें और जो उसकी सुरक्षा की व्यवस्था न करे, उसके भरोसे समाजवाद लाना है तो ले आओ। मुझे खास ऐतराज भी नहीं है। जनता के द्वारा न आकर अगर समाजवाद दफ्तरों के द्वारा आ गया तो एक ऐतिहासिक घटना हो जायेगी।

मरना कोई हार नहीं होती- हरिशंकर परसाई

परसाईजी ने जबसे लिखना शुरू किया तबसे ही मुक्तिबोध के उनसे संबंध रहे। ताजिन्दगी संबंध रहने तथा विचारों के नितन्तर आदान-प्रदान के बावजूद दोनों ने एक दूसरे के बारे में बहुत कम लिखा। मुक्तिबोध की मृत्यु के बाद परसाई जी ने उनके बारे में दो संस्मरण लिखे। इस संस्मरणों से मुक्तिबोध की सोच,मन:स्थिति का पता चलता है । परसाईजी ने मुक्तिबोध के तनावों का जिक्र करते हुये लिखा है-

मुक्तिबोध भयंकर तनाव में जीते थे। आर्थिक कष्ट उन्हें असीम थे। उन जैसे रचनाकार का तनाव साधारण से बहुत अधिक होगा भी। वे सन्त्रास में जीते थे। आजकल सन्त्रास का दावा बहुत किया जा रहा है। मगर मुक्तिबोध का एक-चौथाई तनाव भी कोई झेलता ,तो उनसे आधी उम्र में मर जाता।

मुक्तिबोध के निधन के बाद उनपर लिखते हुये परसाई जी ने लिखा-

बीमारी से लड़कर मुक्तिबोध निश्चित जीत गये थे। बीमारी ने उन्हें मार दिया ,पर तोड़ नहीं सकी। मुक्तिबोध का फौलादी व्यक्तित्व अंत तक वैसा ही रहा। जैसे जिंदगी में किसी से लाभ के लिये समझौता नहीं किया,वैसे मृत्यु से भी कोई समझौता करने को वे तैयार नहीं थे।
वे मरे। हारे नहीं। मरना कोई हार नहीं होती।

परसाईजी द्वारा मुक्तिबोध पर लिखे संस्मरणों में से एक यहाँ प्रस्तुत है।

राजनाँदगाँव में तालाब के किनारे पुराने महल का दरवाजा है- नीचे बड़े फाटक के आसपास कमरे हैं,दूसरी मंजिल पर एक बड़ा हाल और कमरे,तीसरी मंजिल पर कमरे और खुली छत। तीन तरफ से तालाब घेरता है। पुराने दरवाजे और खिड़कियाँ ,टूटे हुये झरोखे,कहीं खिसकती हुई ईंटे,उखड़े हुये प्लास्टर की दीवारें। तालाब और उसके आगे विशाल मैदान। शाम को जब ज्ञानरंजन और मैं तालाब की तरफ गये और वहाँ से धुँधलके में उस महल को देखा तो वह भयावह रहस्य में लिपटा वह नजर आया।

दूसरी मंजिल के हाल के एक कोने में विकलांग मुक्तिबोध खाट पर लेटे हुये थे। लगा, जैसे इस आदमी का व्यक्तित्व किसी मजबूत किले-सा है। कई लड़ाइयों के निशान उस पर हैं। गोलों के निशान हैं,पलस्तर उखड़ गया है,रंग समय ने धो दिया है-मगर जिसकी मजबूत दीवारें गहरी नींव में धंसी हैं और वह सिर ताने गरिमा के साथ खड़ा है।

मैंने मजाक की,"इसमें तो ब्रह्मराक्षस ही रह सकता है।" मुक्तिबोध की एक कविता है,'ब्रह्मराक्षस'। एक कहानी भी है जिसमें शापग्रस्त ब्रह्मराक्षस महल के खँडहर में रहता है।

मुक्तिबोध हँसे। बोले,"कुछ भी कहो पार्टनर, अपने को यह जगह पसन्द है।"

मुक्तिबोध में मैत्री-भाव बहुत था। बहुत सी बातें वे मित्र को संबोधित करते हुये कहते थे। कविता,निबन्ध,डायरी सबमें यह 'मित्र' प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप से रहता है। एक खास अदा थी उनकी। वे मित्र को 'पार्टनर' कहते थे। कुछ इस तरह बातें करते थे-'कुछ भी कहो पार्टनर,तुम्हारा यह विनोद है ताकतवार...आपको चाहे बुरा लगे पार्टनर पर अमुक आदमी अपने को बिल्कुल नहीं पटता।' ज्यादा प्यार में आते तो कहते-'आप देखना मालक, ये सब भागते नजर आयेंगे।'

मुक्तिबोध जैसे सपने में डूबते से बोले," आप जहाँ बैठे हैं वहाँ किसी समय राजा की महफिल जमती थी। खूब रोशनी होती होगी,नाच- गाने होते होंगे। तब यहाँ ऐश्वर्य की चकाचौंध चकाचौंध थी। कुछ भी कहो ,पार्टनर,"फ्यूडलिज्म'(सामन्तवाद) में एक शान तो थी...बरसात में आइये यहाँ। इस कमरे में रात को सोइये। तालाब खूब जोर पर होता है,साँय-साँय हवा चलती है और पानी रात-भर दीवारों से टकराकर छप-छप करता है...कभी-कभी तो ऐसा लगता है ,जैसे कोई नर्तकी नाच रही हो,घुँधरुओं की आवाज सुनायी पड़ती है। पिछले साल शमशेर आये थे। हमलोग २-३ बजे तक सुनते रहे...और पार्टनर बहुत खूबसूरत उल्लू...मैं क्या बताऊँ आपसे,वैसा खूबसूरत उल्लू मैंने कभी देखा ही नहीं...कभी चमगादड़ें घुस आती हैं"...बड़े उत्साह से वे उस वातावरण की बातें करते रहे। अपनी बीमारी का जरा अहसास नहीं।

दोपहर में हम लोग पहुँचे थे। हमें देखा ,तो मुक्तिबोध सदा की तरह-'अरे वाह,अरे वाह',कहते हुये हँसते रहे। मगर दूसरे ही क्षण उनकी आँखों में आँसू छलक पड़े। डेढ़-एक महीने वे जबलपुर रहकर आये थे। एक्जिमा से परेशान थे। बहुत कमजोर। बोलते-बोलते दम फूल आता था। तब मुझे वे बहुत शंकाग्रस्त लगे थे। डरे हुये से। तब भी उनकी आँखों में आँसू छलछला आये थे,जब उन्होंने कहा था-पार्टनर अब बहुत टूट गये हम। ज्यादा गाड़ी खिंचेगी नहीं। दस,पाँच साल मिल जायें,तो कुछ काम जमकर कर लूँ।

आँसू कभी पहले उनकी आँखों में नहीं देखे थे। इस पर हम लोग विशेष चिंतित हुये। मित्रों ने बहुत जोर दिया कि आप यहाँ एक महीने रुककर चिकित्सा करा लें। पर उन्हें

रुग्ण पिता को देखने नागपुर जाना था। सप्ताह भर में लौट आने का वादा करके चले गये। फिर वे लौटे नहीं।

क्षण भर में ही वे सँभल गये।पूछा,"आप लोगों का सामान कहाँ है?"

शरद कोठारी ने कहा,"मेरे घर रखा है।"

वे बोले,"वाह साहब,इसका क्या मतलब? आप लोग मेरे यहाँ आये हैं न?"

हम लोगों ने परस्पर देखा। शरद मुस्कराया।इस पर हम लोग मुक्तिबोध को कई बार चिढ़ाया करते थे-"गुरू ,कितने ही प्रगतिशील विचार हों आपके ,आदतों में 'फ्यूडल' हो। मेरा मेहमान है मेरे घर सोयेगा,मेरे घर खायेगा,कोई बिना चाय पिये नहीं जायेगा,होटल में मैं ही पैसे चुकाऊँगा,सारे शहर को घर में खाना खिलाऊँगा-यह सब क्या है?"

शरद को मुस्कराते देख वे भी मुस्करा दिये। बोले,"यह आपकी अनाधिकार चेष्टा है,बल्कि साजिश है।"

यह औपचारिक नहीं था। मुक्तिबोध की किसी भी भावना में औपचारिकता नहीं- न स्नेह में ,न घृणा में ,न क्रोध में। जिसे पसंद नहीं करते थे,उसकी तरफ घंटे भर बिना बोले आँखे फाड़े देखते रहते थे। वह घबड़ा जाता था।

बीमारी की बात की तो वैज्ञानिक तटस्थता से -जैसे हाथ-पाँव और यह सिर उनके नहीं किसी दूसरे के हों। बड़ी निर्वैयक्तिकता से,जैसे किसी के अंग-अंग काटकर बता रहे होंकि बीमारी कहाँ है,कैसे हुई,क्या परिणाम है?

"तो यह है साहब अपनी बीमारी"-बोलकर चुप हो गये।

फिर बोले -"चिट्ठियाँ आती हैं कि आप यहाँ आ जाइये या वहाँ चले जाइये। पर कैसे जाऊँ? जाना क्या मेरे वस की बात है?...हाँ एक भयंकर कविता हो गयी। सुनाऊँगा नहीं। मुझे खुद उससे डर लगता है। बेहद डार्क,ग्लूमी! भयंकर 'इमेजें' हैं। न जाने कैसी मन:स्थिति थी। कविता वात्स्यायनजी को भेज दी है।...पर अब लगता है ,वैसी बात है नहीं। जिंदगी में दम है। बहुत अच्छे लोग हैं,साथ।कितनी चिट्ठियाँ चिन्ता की आयी हैं। कितने लोग मुझे चंगा करना चाहते हैं! कितना स्नेह ,कितनी ममता है ,आसपास! पार्टनर...अब दूसरी कविता लिखी जायेगी।"

ज्ञानरंजन ने कहा,"पिछली भी सही थी और अब जो होगी,वह भी सही होगी।"

वे आश्वस्त से लगे। हम लोगों ने समझाया कि बीमारी मामूली है,भोपाल में एक-दो महीने में ठीक हो जायेगी।

उनकी आँखों में चमक आ गयी। बोले,"ठीक हो जायेगी न! मेरा भी यही ख्याल है। न हो पूरी ठीक ,कोई बात नहीं। मैं लँगड़ाकर चल लूँगा। पर लिखने-पढ़ने लायक हो जाऊँ।"

इतने में प्रमोद वर्मा आ गये। देखते ही मुक्तिबोध फिर हँस पड़े,"लो,अरे लो,ये भी आ गये! वाह ,बड़ा मजा है ,साहब!"

प्रमोद मैं और शान्ता भाभी तथा रमेश से सलाह करने दूसरे कमरे में चले गये।इधर मुक्तिबोध ज्ञानरंजन से नये प्रकाशनों पर बात करने लगे।

तय हुआ कि जल्दी भोपाल ले चलना चाहिये। मित्रों ने कुछ पैसा जहाँ-तहाँ से भेज दिया था। हम लोगों ने सलाह की कि इसे रमेश के नाम से बैंक में जमा कर देना चाहिये।

मुक्तिबोध पर बड़ी विचित्र प्रतिक्रिया हुई इसकी। बिल्कुल बच्चे की तरह वे खीझ उठे। बोले," क्यों? मेरे नाम से खाता क्यों नहीं खुलेगा? मेरे ही नाम से जमा होना चाहिये। मुझे क्या आप गैर जिम्मेदार समझते हैं?"

वे अड़ गये। खाता मेरे नाम से खुलेगा। थोड़ी देर बाद कहने लगे,"बात यह है पार्टनर कि मेरी इच्छा है ऐसी। 'आई विश इट'। मैं नहीं जानता कि बैंक में खाता होना कैसा होता है। एक नया अनुभव होगा मेरे लिये। तर्कहीन लालसा है-पर है जरूर ,कि एक बार अपना भी एकाउन्ट हो जाये! जरा इस सन्तोष को भी देख लूँ।"

मुक्तिबोध हमेशा ही घोर आर्थिक संकट में रहते थे। अभावों का ओर-छोर नहीं था। कर्ज से लदे रहते थे। पैसा चाहते थे ,पर पैसे को ठुकराते भी थे। पैसे के लिये कभी कोई काम विश्वास के प्रतिकूल नहीं किया। अचरज होता है कि जिसे पैसे-पैसे की तंगी है,वह रुपयों का मोह बिना खटके कैसे छोड़ देता है। बैंक में खाता खुलेगा-यह कल्पना उनके लिये बड़ी उत्तेजक थी। गजानन माधव मुक्तिबोध का बैंक में खाता है-यह अहसास वे करना चाहते थे। वे शायद अधिक सुरक्षित अनुभव करते।

तभी एक ज्येष्ठ लेखक की चिट्ठी आयी कि आप घबड़ायें नहीं,हम कुछ लेखक जल्दी ही अखबार में आपकी सहायता के लिये अपील प्रकाशित करा रहे हैं।

चिट्ठी पढ़कर मुक्तिबोध बहुत उत्तेजित हो गये। झटके से तकिये पर थोड़े उठ गये और बोले ,"यह क्या है? दया के लिये अपील निकलेगी! अब,भीख माँगी जायेगी मेरे लिये! चन्दा होगा! नहीं-मैं कहता हूँ-यह नहीं होगा।मैं अभी मरा थोड़े ही हूँ। मित्रों की सहायता ले लूँगा-लेकिन मेरे लिये चन्दे की अपील! नहीं । यह नहीं होगा!"

हम लोगों ने उन्हें समझाया कि आपकी भावना से उन्हें परिचित कर दिया जायेगा और अपील नहीं निकलेगी।

उस शाम को रमेश ने एक चिट्ठी लाकर दी,जिसमें बीस रुपये के नोट थे। चिट्ठी उनके एक विद्यार्थी की थी। उसने लिखा था कि मैं एक जगह काम करके पढ़ाई का खर्च चला रहा हूँ । आपके प्रति मेरी श्रद्धा है। मैं देख रहा हूँ कि अर्थाभाव के कारण आप जैसे साहित्यकार की चिकित्सा ठीक से नहीं हो पा रही है। मैंने ये बीस रुपये बचाये हैं। इन्हें आप ग्रहण करें। ये मेरी ही कमाई के हैं,इसलिये आप इन्हें लेने में संकोच न करें। स्वयं आपको रुपये देने का साहस मुझमें नहीं है,इसलिये इस तरह पहुँचा रहा हूँ।

चिट्ठी और रुपये हाथ में लिये वे बड़ी देर तक खिड़की के बाहर देखते रहे। उनकी आँखें भर आयीं। बोले,"यह लड़का गरीब है। उससे कैसे पैसे ले लूँ।"

वहाँ एक अध्यापक बैठे थे। उन्होंने कहा,"लड़का भावुक है। वापस कर देंगे , तो उसे चोट पहुँचेगी। " मुक्तिबोध बहुत द्रवित हो गये इस स्नेह से। बड़ी देर तक गुमसुम बैठे रहे।

भोपाल जाने की तैयारी होने लगी। उनका मित्र -भाव फिरजाग उठा। मुझसे कहने लगे,"पार्टनर,मैं आपसे एक बात साफ कहना चाहता हूँ। बुरा मत मानना। देखिये, आपकी जीविका लिखने से चलती है। आप अब भोपाल मेरे साथ चलेंगे। वहाँ रहेंगे। आप लिख नहीं पायेंगे, तो आपको आर्थिक कष्ट होगा। मैं कहता हूँ कि आप मेरे पैसे को अपना पैसा समझकर उपयोग में लाइए।"

मुक्तिबोध बहुत गम्भीर थे। हम लोग एक-दूसरे को देख रहे थे।

वे मेरी तरफ जवाब के लिये आँखें उठाये थे और हम लोग हंसी रोके थे।

तभी मैंने कहा,"आपके पैसे को मैं अपना पैसा समझने को तैयार हूँ। पर पैसा है कहाँ?" प्रमोद जोर से हँस दिया। मुक्तिबोध भी हँस पड़े। फिर एकदम गम्भीर हो गये। बोले," हाँ ,यही तो मुश्किल है,यही तो गड़बड़ है।"

जो थोड़े से पैसे उनके हाथ में आ गये थे,वे कुलबुला रहे थे। उन्हें कितने ही कर्तव्य याद आ रहे थे। कोई मित्र कष्ट में है,किसी की पत्नी बीमार है,किसी के बच्चों के लिये कपड़े बनवान हैं। उस अवस्था में जब वे खुद अपंग हो गये थे और अर्थाभाव से पीड़ित थे,वे दूसरों पर इन पैसों को खर्च कर देना चाहते थे। आगे भोपाल में तो इस बात पर बाकायदा युद्ध हुआ और बड़ी मुश्किल से हम उन्हें समझा सके कि रोगी का किसी के प्रति कोई कर्तव्य नहीं होता,सबके कर्तव्य उसके प्रति होते हैं।

और उस रात हम लोग गाड़ी पर चढ़े ,तो साथ में रिमों कागज था। मुक्तिबोध ने हठ करके पूरी कवितायेँ,अधूरी कवितायें, तैयार पाण्डुलिपियाँ सब लदवा लीं। बोले, "यह सब मेरे साथ जायेगा। एकाध हफ्ते बाद मैं कुछ काम करने लायक हो जाऊँगा ,तो कवितायें पूरी करूँगा, नयी लिखूँगा और पाण्डुलिपियाँ दुरस्त करूँगा। अपने से अस्पताल में बेकार पड़ा नहीं रहा जायेगा,पार्टनर! और हाँ...,वह पासबुक रख ली है न?"

पर उन कागजों पर मुक्तिबोध का न फिर हाथ चल सका और न वे एक चेक काट सके।

जिंदगी बिना कविता संग्रह देख और बिना चेक काटे गुजर गयी।

हरिशंकर परसाई -दो खुले खत

*[**हरिशंकर परसाई** के लेख के प्रति साथियों की दिलचस्पी को देखते हुये मुझे उनके बारे में अपने साथियों को कुछ और पढ़वाने का मन कर रहा है। आज मैं उनके मित्र, रायपुर-जबलपुर से निकलने वाले हिंदी दैनिक **देशबन्धु** के प्रकाशक **मायाराम सुरजन** द्वारा परसाई जी को लिखे खुला खत पोस्ट कर रहा हूँ। यह खुला पत्र **मायाराम सुरजन** ने **परसाई जी** के पचास वर्ष पूरे करने पर लिखा था। पत्र में कुछ जिन कुछ बातों का जिक्र हुआ उनके बारे में बता दूँ। परसाई जी के उग्र व्यंग्य लेखन से बौखला कर संघ के कुछ स्वयंसेवकों ने*

*उनको पीट दिया।परसाईजी इससे बहुत क्षुब्ध थे। इलाज के लिये अस्पताल पहुँचने पर वहीं से उन्होंने अगले दिन लेख लिखा -मेरा लिखना सार्थक हुआ। उनके व्यंग्य ने संघ वालों को इतना तिलमिला दिया कि वे हिंसा पर उतारू हो गये। बाद के दिनों में परसाईजी शराब काफी पीने लगे थे। मायाराम सुरजन उन कुछ लोगों में थे जिनका नियंत्रण परसाईजी पर था। इसीलिये उन्होंने लिखा है-***यह जरूरी नहीं कि 'किक' मिलने पर ही अच्छे साहित्य की रचना की जा सकती है।***

ये पत्र हरिशंकर परसाई की मानसिक बनावट,मित्रों से उनके रिश्तों तथा उनके सोच-सिद्धान्त को समझने का जरिया हैं।]

हरिशंकर परसाई के नाम

मायाराम सुरजन का खुला पत्र

देशबन्धु,रायपुर
२६ अगस्त,१९७३

प्रिय भाई,

यूँ तुम इस पत्र के अधिकारी नहीं हो,क्योंकि जब ५-६ महीने पहिले मैंने ५० वर्ष पूरे किये थे तो तुमने मुझ पर कोई प्रशंसात्मक लेख लिखना तो दूर रहा,बधाई की एक चिट्ठी तक नहीं भेजी। इसीलिये जब तुम पिटकर **'आल इंडिया'** से कुछ ऊपर के **'फिगर'** हो गये हो तो मैंने तुम्हारी मातमपुरसी तक नहीं की। इसलिये कि कम-से-कम तुम्हारी लेखनी के लिये कुछ और नया मसाला मिलेगा।

फिर भी,बहुत दिनों से तुमसे मुलाकात नहीं हुई,इसलिये यह सार्वजनिक पत्र लिखे ही देता हूँ ताकि लोगों को यह मालूम हो जाये कि तुम्हारे भी पचास वर्ष पूरे हो गये हैं। दरअसल उम्र तो चलती ही रहती है। बात तो उपलब्धियों की है। इस उम्र में तुम्हारी कलम ने बहुत जौहर दिखाये हैं और उसकी वजह से तुम्हें अखिल भारतीय ख्याति भी प्राप्त हुई है। पर इससे क्या हुआ? तुम अभी भी ऐसे मकान में रहते हो,जिसमें बरसात का पानी चूता है,जिसके चारों ओर कोई खिड़कियाँ नहीं और कोई मकान बनाने लायक कमाई तुम कर नहीं पाये। उम्मीद थी कि सन् ७२ में राज्यसभा के जो चुनाव हुये थे उसमें तुम्हारा भी एक नाम होगा, लेकिन चुनाव तो तुम लड़ नहीं सकते। जो लोग वोट देने वाले हैं,तुम उनकी ही बखिया उधेड़ते रहते हो,तब राष्ट्रपति ही तुम्हें मनोनीत करें यही एक विकल्प बाकी है। वहाँ तक तुम्हारा नाम पहुँचने के बावजूद पश्चिम बंगाल बाजी मार ले गया। दरअसल वहाँ भी बिना किसी ऊँची शिफारिश के कोई काम नहीं हो सकता। अगले साल फिर कुछ उम्मीद की जा सकती है,और तुम कुछ करोगे नहीं,इसीलिये इस लेख के द्वारा उन लोगों को याद दिलाना चाहता हूँ जो एक बार फिर इसके लिये पहल करें।चुनाव लड़ने का नतीजा तो तुम देख ही चुके हो। मुझे सिर्फ ५ वोट मिले और पं.द्वारिका प्रसाद मिश्र इसलिये मेरी मदद नहीं कर सके कि राष्ट्रपति डा. राधाकृष्णन ,कांग्रेसाध्यक्ष कामराज तथा केंद्रीय मन्त्री मोरारजी देसाई ने श्रीए.डी.मणि के नाम बचत वोट देने का परवाना भेज दिया था।

दरअसल सिद्धान्तों के चिपके रहने से कुछ होता नहीं ,थोड़ी-बहुत चमचागिरी तो करनी ही पड़ेगी,मुसीबत यह है कि सत्ता रोज-रोज बदलती है और चमचे कुछ इस धातु के बनते हैं कि सत्ता के साथ उनके रंग भी बदल जाते हैं।तुमसे कुछ ऐसा बन सके तो मेरी सलाह है कि कुछ उद्योग जरूर करो।

म.प्र. में रहकर लिखा-पढ़ी में क्या रखा है। तुम अगर दिल्ली में रहो तो हो सकता है कि आगे-पीछे घूमने से तुम्हें भी कोई स्कालरशिप मिल जाये। एकाध स्टेनोग्राफर भी मिल सकता है और कुछ साल तुम सुखी रह सकते हो। यह तो हम कई बार विचार ही चुके हैं कि इस तरह की हेराफेरी के लिये दिल्ली का मौसम बहुत अनुकूल पड़ता है।

सिद्धान्तों से मैं भी बहुत चिपका हुआ हूँ। लेकिन अखबारों की हालत यह है कि मँहगाई का एक झोंका नहीं सह सके। पिछले साल कुछ बड़े अखबारों ने अपने विज्ञापन- दर बढ़ा दिये तो हमारे जैसे बहुत-छोटे से अखबार मार्केट से आउट हो गये। सरकार की हम जरूर दाद देते रहते हैं जो भले ही कुछ न करे,लेकिन छोटे अखबारों के साथ हमदर्दी जरूर जताती रहती है। तुम्हारी दशा इससे कुछ अलग नहीं है। तुम्हारी लेखनी पर खुश होकर

तुम्हें हर साल एक-दो पुरस्कार मिल जाते हैं और इसका अर्थ यह लगा लेना चाहिये कि तुम इससे अधिक और कोई अपेक्षा मत करो।

मेरी सलाह मानो कि अपनी कुटिलता छोड़ दो। और तुम इससे बाज नहीं आते। अभी जब तुम पिटे थे तो जबलपुर नगर संघ चालक दबड़गाँवकरजी ने तुम्हें आश्वस्त किया था कि भविष्य में तुम्हारे साथ ऐसी किसी घटना की पुनरावृत्ति नहीं होगी। बेचारे दबड़गाँवकरजी का सीधा आशय यह था कि अगली बार संघ तुम्हारी रक्षा करेगा और एक तुम हो कि उसका अर्थ यह लगा लिया कि तुम्हारी पहली पिटाई संघ के स्वयंसेवकों ने ही की थी। इसीलिये तो हनुमान वर्मा का कहना है कि हम लोग तुम्हारा जो मरणोपरान्त साहित्य प्रकाशित करेंगे,उसका नाम '**परसाई ग्रन्थमाला**' न रखके '**परसाई विषवमन**' रखेंगे। कौन जानता है कि तुम हमें यह मौका दोगे या नहीं या हम लोग ही पहले चल देंगे।

पिटने के बाद तुमने पुलिस द्वारा कुछ न किये जाने की गुहार लगाई। अफसोस है कि शेषनारायण राय के मामले के अनुभव से तुमने कुछ नहीं सीखा। दरअसल ,पुलिस समदर्शी है। अगर कभी तुम किसी पुलिस थाने के सामने से निकले होगे तो एक बड़े से बोर्ड पर तुमने '**देशभक्ति और जनसेवा**' लिखा देखा होगा। बात सीधी है। जनसेवा का मतलब होता है-बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय। तुम एक हो और पिटाई करने वाले अनेक एक का साथ देना जन-सेवा नहीं होती। जिस पक्ष के लोग ज्यादा हों उनका साथ देना जनसेवा का प्रतीक है ,और वही देशभक्ति। इतनी छोटी-सी बात तुम्हारी समझ में बहुत पहिले आ जानी चाहिये थी।

तुम्हारा ख्याल है(और भी बहुत लोग ऐसा ही सोचते हैं) कि तुम बहुत अच्छे व्यंग्य शिल्पी हो। मैं भी तुम्हें जान रस्किन की कोटि का समझने लगा था। लेकिन आज किताबें उलटते-पलटते समय तुम्हारी एक किताब 'हंसते हैं रोते हैं' हाथ लग गयी। डेढ़ रुपये की तुम्हारी किताब को तुमने मुझे दो रुपये में बेचा था। उस पर तुर्रा यह कि प्रथम पृष्ठ पर यह लिख दिया '**दोरुपये में भाई मायाराम को सस्नेह**'। आठ आना की इस ठगी को तुम व्यंग्य के आवरण में छुपाना चाहते हो।

ज्यों-त्यों करके तुम्हें साहित्य सम्मेलन में लाये। तुमने कुछ अच्छे काम भी किये। लेकिन राजनाँदगाँव सम्मेलन की सबसे बड़ी उपलब्धि तुमने आदरणीय डा.बलदेव प्रसाद जी मिश्र द्वारा दिये गये भोज को माना। सम्मेलन के अध्यक्ष पं. प्रभुदयाल अग्निहोत्री को भी तुमने नहीं छोड़ा। ऐसी स्थिति में तुम साहित्यकारों के बीच कैसे' पापुलर' हो सकते

हो? इसलिये (श्री हनुमान वर्मा क्षमा करें) हनुमान का ख्याल है कि जिसे तुम व्यंग्य समझते हो ,दरअसल वे चुटकुले हैं।

साहित्य की बात छोड़ो। मैं तुम्हें तुम्हारे ही आइने में देखना चाहता हूँ। कुछ ऐसी आदतें हैं जिन्हें तुम या तो बिल्कुल छोड़ सकते हो या सीमित कर सकते हो। यह जरूरी नहीं कि 'किक' मिलने पर ही अच्छे साहित्य की रचना की जा सकती है। मैंने ऐसा कुछ नहीं किया। इसके बाद भी श्रीबाल पांडेय ने मुझे अच्छा सम्पादक और कवि मान लिया। यह एक ऐसी सलाह है जिस पर अमल करने के लिये मैं बार-बार तुमसे आग्रह करता रहा हूँ।

तुम्हारे साहित्य का क्या जिक्र करूँ। वह अपने आपमें समृद्ध है और किसी की प्रशंसा का मोहताज नहीं । बहुत से व्यंग्यकार वाक्य के वाक्य उड़ा लेते हैं और स्वनामधन्य अखबारों में छप भी जाते हैं। अगर तुम्हारा साहित्य इस लायक न होता तो वह चोरी क्यों की जाती।

थोड़ा लिखा ,बहुत बाँचना। ५१ वीं जन्मग्रंथि पर मेरा अभिनन्दन लो और नये बरस के लिये कुछ अच्छे संकल्प लो।

तुम्हारा
मायाराम सुरजन

खुले पत्र का खुला जवाब:

मायाराम सुरजन को परसाई का

देशबन्धु,रायपुर
७ सितम्बर,१९७३

प्यारे भाई,
देशबन्धु रायपुर-जबलपुर में तुम्हारा खुला पत्र मेरे नाम पढ़ा।

आखिर हम लोग वर्षगांठों पर एकाएक ध्यान क्यों देने लगे?

तुम अपनी परम्परा से हट गये। तुमने १४-१५ संस्मरण लेख लिखे हैं, उन लोगों पर जो मृत हो गये हैं। इस बार तुमने ऐसे मित्र पर लिखा जो मारा नहीं पीटा गया है। याने तुम्हारी लेखन प्रतिभा तभी जाग्रत होती है जब कोई अपना मरे या पीटा जाये।

मैं जानता हूँ तुम अत्यन्त भावुक हो। मैंने तुम्हारी आँखों में आँसू देखे हैं। बन पड़ा तो पोंछे भी हैं। तुमने भी मेरे आँसू पोंछे हैं। पर हम लोग सब विभाजित व्यक्तित्व (स्पिलिट पर्सनालिटी) के हैं। हम कहीं करुण होते हैं और कहीं क्रूर होते हैं। इस तथ्य को स्वीकारना चाहिये।

पिछले २५ वर्षों से हम लोग मित्र रहे हैं। एक-दूसरे के सुख-दुख के साथी। यार, निम्न-मध्य वर्ग के अलग संघर्ष होते हैं। इसे समझें । अब न्यूजप्रिंट के संकट का कष्ट तुम भुगत रहे हो। लेकिन तुमने' कल' की परवाह नहीं की। ५० साल की उमर में तुम ढीले क्योंहो रहे हो?

जहाँ तक मेरा सवाल है-मैं नहीं जानता,मुझे यश कैसे मिल गया।मैंने अपना कर्तव्य किया। पिटवाया पत्रकार मित्रों ने मुझे लगातार छापकर।वर्ना मैं कहीं समझौता करके 'मोनोपोली' में बैठ जाता। उन्हें बाध्य किया जाता है कि वे 'फियेट' कार खरीदें क्योंकि यह कम्पनी की इज्जत का सवाल है।

मैं कबीर बना तो यह सोचकर कि-

कबिरा खड़ा बजार में लिये लुकाठी हाथ।
जो घर फूँके आपना चले हमारे साथ।।

साथ ही-

सुन्न महल में दियना वार ले
आसन से मत डोल री
पिया तोहे मिलेंगे।

मैं आसन से नहीं डोला तो थोड़ा यश मिल गया। पर तुम्हारा लिखना ठीक है कि साधना और यश के बाद भी मेरा घर चू रहा है। पर यह हम जैसे लोगों की नियति है। ग़ालिब ने कहा है-

अब तो दर ओ-दीवार पे आ गया सब्जा-ग़ालिब,
हम बयाबाँ में हैं और घर पे बहार आई है।।

तो यह चुनने का प्रश्न है। अपनी नियति मैंने स्वयं चुनी। तुमने भी। मुझे किसी ने बाध्य नहीं किया कि मैं लिखूँ और ऐसा प्रखर व्यंग्य लिखूँ। यह मेरा अपना निर्णय था। जो निर्णय मैंने खुद लिया । उसके खतरे को समझकर लिया। उसके परिणाम भोगने के अहसास के साथ लिया।

जहाँ तक राज्यसभा की सदस्यता का सवाल है,तुम लड़े और हारे। पर तुम विचलित नहीं हुये ,इसका मैं गवाह हूँ। और तुम उसके गवाह हो कि राज्यसभा में मनोनीत होने की पहल मैंने नहीं ,एक बड़े ज्ञानी राजनैतिक नेता ने की थी। मुझे अपने घनिष्ठ मित्र का तार और ट्रंक मिले। मैं गया क्योंकि मित्र का बुलावा था। पर तब तक केन्द्र शासन इस अहंकार में था कि उसने बंगाल जीत लिया ,इसलिये सिद्धार्थ शंकर रे की चल गयी और मेरे समर्थक राजनैतिक पुरुष की नहीं चली। इंदिराजी ने उनसे पूछा था मेरे सम्बन्ध में। पर उन्होंने टालमटोल का उत्तर दिया। वे जानते थे कि उनका अवमूल्यन हो रहा है। और सिद्धार्थ की चल रही है, इसलिये मुझे शिकायत नहीं ,वे भी मेरे लेखक बन्धु हैं।

बात यह है कि जिन्दगी को मैं काफी आर-पार देख चुका हूँ। चरित्रों को मैं समझता हूँ वरना लेखक न होता। मैंने उक्त बात उन महान राजनैतिक नेता से कह दी। उनका जवाब था ,ऐसा तो नहीं हुआ। मुझसे इंदिराजी ने इस सम्बन्ध में बात ही नहीं की।

अब हाल यह है कि लगभग ५०० चिट्ठियाँ भारत भर से मेरे पास आयी हैं। हर डाक से आती जा रहीं हैं। जवाब देना कठिन है पर कुछ जवाब देना जरूरी है। यह **यशपाल जी** की चिट्ठी है।

प्रिय परसाई जी*,*
२१ जून की घटना का समाचार १५ जुलाई के दिनमान द्वारा मिला।आपकी व्यंग्य प्रतिभा का कायल वर्षों से हूँ। आपके दृष्टिकोण समर्थक भी हमारे समाज के रुढ़िग्रस्त अन्धविश्वास के क्षय के उपचार के लिये आप अनथक परिश्रम से जो इंजेक्शन देते आ रहे हैं उसके लिये आभार प्रकट करता हूँ। २१ को आपकी निष्ठा और साहस के लिये जो प्रमाण-पत्र आपको दिया गया उसके लिये मेरा आदर स्वीकारें। आज से बीस-पच्चीस साल पहले जब मैं 'जनयुद्ध' या अन्यत्र ऐसा कुछ लिखता था तो भारतीय संस्कृति की पीठ में खंजर भोंकने और हिन्दू धर्म भावना के हृदय में छुरी मारने के अपराध में मुझे धमकी

भरे पत्र मिलते थे। आपके लिये धमकियाँ पर्याप्त नहीं समझीं गयीं। यह आपके प्रयत्न से अधिक सार्थक होने का प्रमाण है।

इस उम्र और स्वास्थ्य में भी आपके साथ वाक् और विचार स्वतंत्रता के लिये सब कुछ देने और सहने के लिये तैयार हूँ।
-आपका यशपाल

इधर कितनी ही चिट्ठियाँ आयी हैं। संघर्षात्मक भी और भावात्मक भी। एक देवी जी की चिट्ठी आयी है कि हमें क्या अहसास था कि आपके साथ भी ऐसा होगा। पर आप तो लड़ाकू आदमी हैं। फिर वे ग़ालिब का शेर लिखती हैं-

ये लाश बेकफ़न असद-ए-खस्ता जाँ की है,
हक आफरत-को अजब आजाद मर्द था।

मैं क्या जवाब देता। मैंने ग़ालिब का दूसरा शेर जवाब में भेज दिया-

हमने माना कि तगाफुल न करोगे लेकिन,
खाक हो जायेंगे हम तुमको खबर होने तक।

इससे उनकी रूमानी भावना को तृप्ति मिली होगी।

फिर मैंने एक को लिख दिया-

काफिले तो बहुत तेज रौ में मगर,
रहबरों के कदम लड़खड़ाने लगे।

मित्र मुझे जीवन में अच्छे मिले,हालाँकि शत्रु मैंने ज्यादा बनाये। पिछले दिनों बीमार बहनोई,जो अब देह त्यागकर गये हैं,की सेवा करते-करते भोपाल में बीमार पड़ा तो रमन कटनी लौटने के पहले मेरे होटल आये। मैं सो रहा था,तो रमन मैंनेजर के पास दो सौ रुपये मेरे लिये जमा करके चले गये। तुम पूछोगे कि बहनोई को स्वर्गीय क्यों नहीं कहते। मुझे पिता की ही खबर नहीं मिली कि वे स्वर्ग में हैं या नर्क में।

तो मित्र ऐसा ही कि -

मैं तो तन्हा ही चला था जानिबे मंजिल मगर,
लोग साथ आते गये काफिला बनता गया।।

यह मंजिल शोषणविहीन,न्यायपूर्ण समतावादी समाज की स्थापना है। इसके लिये मैं प्रतिबद्ध हूँ।

मैं तुम्हारे जीवन संघर्षों को जानता हूँ। तुम्हारी मानसिक पीड़ाओं को भी। मित्र मध्य वर्ग के बेटे होकर भी तुमने इतना किया यह तुम्हारे ही दमखम की बात है। पर अब आगे मत बढ़ाओ। जितना है उसी को सम्भालो और संवरो,तुम अश्री रामगोपाल माहेश्वरी कभी नहीं हो सकते। यह मैंने तुमसे पहले भी कहा था। इस उम्र में योजना बनाकर काम करना चाहिये। पर तुम्हारा और मेरा चरित्र ही ऐसा रहा है कि ५० साल की उमर में २०-२२ साल के लड़के की तरह बर्ताव करते हैं। है न ?

संघर्ष मैंने बहुत किये हैं। मैं १८ वर्ष की उम्र में माता-पिता की मृत्यु के कारण छोटे भाई बहनों का माता-पिता हो गया था।इसलिये संघर्षों से मैं कभी डरा नहीं। जो स्थिति सामने आयी,उससे निपटा। यह जो मामला मेरे साथ गुजरा उसे भी मैं पचा गया। मुझे क्या पता था कि यश लिखने से अधिक पिटने से मिलता है,वरना मैं पहले ही पिटने का इंतजाम कर लेता।

सस्नेह
-हरिशंकर परसाई